॥ श्री श्रीगुरु गौरांगौ–जयतः ॥

द्वादश महाजन अन्यतम भक्तप्रवर श्रीप्रह्लाद महाराज

एवं सर्व विघ्न विनाशन भगवान्

श्रीनृसिंहदेव

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद परमहंसस्वामी श्री श्रीमद्

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के नित्यसिद्ध परिकर

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठों के प्रतिष्ठाता आचार्य, गौड़ीय आचार्य केसरी,

नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद् भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

जी के प्रियतम शिष्य

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति के प्राक्तन सभापति आचार्य श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय एकादशाधस्तनान्वयवर परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज

जी के आदेशानुसार सम्पादित

श्रीसमिति के वर्तमान आचार्य,

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्तिवेदान्त पर्यटक गोस्वामी महाराज

सर्वविघ्न-विनाशन भगवान्
श्रीनृसिंहदेव

मंगलाचरण

"वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥
प्रह्लाद-हृदयाह्लादं भक्ताविद्या-विदारणम्।
शरदिन्दु-रुचिं वन्दे पारीन्द्र-वदनं हरिम्॥"

अर्थात्, जिनके मुख में वाग्देवी श्रीसरस्वती, वक्ष में श्रीलक्ष्मी देवी एवं हृदय में सम्वित् (ज्ञान) विराजमान हैं, उन श्रीनृसिंहदेव का भजन करता हूँ। जो प्रह्लाद के हृदय के आह्लाद स्वरूप हैं, भक्तों की अविद्या को दूर करने वाले हैं, उन शरत्-कालीन चन्द्र के समान अंग-शोभा-युक्त सिंह-वदन श्रीहरि की वन्दना करता हूँ।

श्रीहरि ही एकमात्र विघ्न-विनाशन हैं। कहते हैं—"राखे हरि, मारे के?" (अर्थात् जिनकी रक्षा स्वयं श्रीहरि करते हैं, उन्हें कौन मार सकता हैं?") अतः विघ्न-विपत्ती से उद्धार का एकमात्र उपाय—श्रीहरि का आश्रय हैं। ब्रह्मा-शिव आदि देवता जगत के कई लोगों के अभाव को पूरा कर सकते हैं, किन्तु वे भी घोर विपत्ती में फँसने पर "त्राहि मधुसूदन" पुकारते हुए संकट-नाशन श्रीहरि की शरण ग्रहण करते हैं। तो वहाँ मनुष्य क्या कहना?

विघ्न-विनाशन के रूप में श्रीहरि का एक विशेष स्वरूप हुआ हैं—भगवान श्रीनरहरि। **"केशव-धृत नरहरि-रूप जय जगदीश हरे।"** इन श्रीनरहरि का स्मरण करने से कैसे भी विघ्न क्यों न हों, दूर हो जाता हैं। उनके नाम के उच्चारण से यमदूत तक डर के मारे चिल्लाने लगते हैं और खुद को ही विपत्ति में फँसा फँसा अनुभव करने लगते हैं—अन्य किसी की बात और क्या कहें।

भगवान् श्रीनरहरि—परव्योम में अवस्थित असंख्य वैकुण्ठों में से एक वैकुण्ठ लोक के अधीश्वर हैं, वहाँ वे सरस्वती तथा लक्ष्मी-पति के रूप में प्रह्लाद आदि पार्षदों के साथ नित्य विराजमान हैं। वे चतुर्भुज विष्णुमूर्ति हैं, उनके दक्षिण भाग के नीचे के हाथ में—चक्र, उनके उपर वाले हाथ में पद्म, तथा बायीं ओर ऊपर के हाथ में—गदा, और नीचे के हाथ में शंख, सुशोभित हैं। चन्द्र की किरण के समान परम स्निग्ध और उज्ज्वल उनकी अंग कान्ति हैं। उनका

श्रीमुखारविन्द—सिंह की मुख आकृति जैसा हैं और बाकी श्रीअंग—नर आकृति के हैं। इसीलिए वे 'नरहरि' अर्थात् 'नर' तथा 'हरि' हैं। 'हरि' कहने पर यहाँ 'सिंह' समझा जाता हैं। इसी कारण से उनके अन्य नाम—नरसिंह, नृसिंह, नृहरि, नृपंचास्य आदि हैं।

'सिंह' कहने से ही एक भयंकर प्राणी का चित्र मन में उदित हो जाता हैं। स्वभाव से वह अत्यन्त गंभीर और हिंसक-स्वभाव का होने पर भी बाकी सब पशुंओं की अपेक्षा उसका वैशिष्ट्य अधिक हैं, इसीलिए उसे 'पशुराज' (पशुओं के राजा) के रूप में सम्मान दिया जाता हैं। सिंह बाकी सब प्राणियों के पर प्रति उग्र होता हैं, किन्तु अपनी संतान के प्रति उसकी वह उग्रता लेश मात्र भी नहीं रहती—इसी तरह भगवान् श्रीनृसिंहदेव हैं; वे अभक्तों के लिए भयंकर महाकाल-स्वरूप हैं, साक्षात् 'मृत्यु' हैं, किन्तु भक्तों के प्रति उनका अत्यन्त वात्सल्य हैं। इसीलिए उनकें सम्बन्ध में कहा जाता हैं—

"उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेशरी।
केशरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविग्रहः॥"

अब विचार किया जाय कि, विघ्न कहाँ से आता हैं, किस तरह से आता हैं? तभी समझा जा सकेगा कि विघ्न किस तरह से दूर होता है। एक शब्द में—**हरिभक्ति का अभाव होने के कारण ही सभी प्रकार के विघ्नों की उत्पत्ति होती हैं।** क्यों? उसे कहता हूँ—जैसे, प्रकाश के स्त्रोत से दूर चले आने पर ही अंधेरा जकड़ लेता हैं, उसी प्रकार श्रीहरि ही मात्र 'अभय-अशोक-अमृत आधार हैं'—उनका आश्रय त्यागकर चलने की इच्छा करने पर ही विघ्न आकर घेर लेते हैं। इसी प्रकार 'विघ्न'—स्वयं के अभक्तिपर कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। फिर कभी किसी अभक्त के द्वारा ईर्ष्या-हिंसा के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः दोनों ही क्षेत्रों में विघ्न-विनाशन श्रीनरसिंहदेव ही जीव के एकमात्र सहायक हैं। प्रकाश के पास आने से अंधेरा जिस प्रकार अपने आप ही मिट जाता हैं, ठीक उसी प्रकार ही उनके स्मरण से, उनकी कृपा से अभक्तिपर कर्मों का सारा फल नष्ट हो जाता हैं और दूसरी ओर कोई अभक्त भी पास में फटक नहीं सकता—अतः 'निर्विघ्न' उनके प्रत्येक प्रत्येक क्षण में साथी बन जाते हैं। होंगे भी क्यों नहीं? **"यद्विभेति स्वयं भयम्"** (भाः १/१/१४)—भय स्वयं जिनसे डरता हो, उनके आश्रय में किस विघ्न का भय होगा?

श्रीनृसिंहदेव को सर्वदा इस रूप में प्रणाम किया जाता हैं—

"ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिहं भीषणं भद्रं मृत्युर्मृत्युं नमाम्यहम्॥"

वे श्रीनृसिंहदेव किस प्रकार के हैं? 'वे उग्र, वीर, महाविष्णु ज्वलंत (आग की लौ युक्त), सभी ओर मुखविशिष्ट, भीषण, फिर भद्र और मृत्यु के भी मृत्यु-स्वरूप हैं, मैं उन्हीं को नमस्कार करता हूँ।' वास्तव में वे भक्तों के विघ्नों को सहन नहीं कर पाते हैं—इसीलिए उनका इस प्रकार का भीषण उग्र रूप हैं। यह उनका भक्त-वात्सल्य हैं। नहीं तो वे फूल से भी अधिक कोमल हैं। वे भक्त तथा भक्ति की मर्यादा-रक्षा के अधिदेवता-रूप में जगत में प्रकाशित हैं। जहाँ-जहाँ भक्त तथा भक्ति के ऊपर विद्वेष या प्रतिकूल-चेष्टा होती हैं, उन्हीं-उन्हीं स्थानों पर श्रीनृसिंहदेव का अवतार होता हैं। जय भक्त-वत्सल भगवान् श्रीनृसिंहदेव की जय!

इस सत्ययुग में भक्तप्रवर प्रह्लाद-महाराज के चरित्र में इसका ज्वलन्त देख सकते हैं। भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने श्रीप्रह्लाद जी के माध्यम से जगत को दिखाया हैं कि—'शुद्ध-भक्ति' वास्तव में क्या होती हैं, उस भक्ति की क्या महिमा हैं और वे अपने शुद्ध भक्तों की हर क्षण किस प्रकार रक्षा करते हैं। इसी से वे सभी शुद्ध भक्तों के लिए तथा शुद्ध-भक्ति का प्रचार करने वालों के लिए 'सर्वविघ्न-विनाशन" के रूप में परम आश्रय-स्वरूप हुए हैं। उनकी इस परमपावनी कथा का श्रवण, कीर्तन या स्मरण करने से, यहाँ तक कि, समर्थन करने से भी जीव सहसा विघ्न-मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि श्रीनृसिंहदेव तथा श्रीनृसिंह-कथा—एक ही वस्तु हैं।

श्रीनृसिंह-पूजा के पहले श्रीप्रह्लाद महाराज की पूजा करणीय

श्रीनृसिंहदेव—विषय-विग्रह श्रीभगवान् हैं तथा श्रीप्रह्लाद महाराज—आश्रय-विग्रह भगवत्-स्वरूप हैं। दोनों ही एक दूसरे की महिमा का प्रकाश कर शुद्ध-भक्तों के उपास्य-स्वरूप हुए हैं। इसीलिए श्रीनृसिंह-पूजा से पहले श्रीप्रह्लाद जी की पूजा करना—शास्त्र-विधि हैं।

"प्रह्लाद-क्लेशनाशाय या हि पुण्या चतुर्दशी।
पूजयेत् तत्र यत्नेन हरेः प्रह्लादमग्रतः॥"

—(हरि-भक्ति-विलास धृत आगमवाक्य)

अर्थात्, प्रह्लाद के क्लेश का नाश करने के लिए श्रीहरि, जिस वैशाखी शुक्ल-चतुर्दशी को आविर्भूत हुए थे, उस पवित्र तिथि में 'श्रीहरि के आगे' (श्रीहरि के पहले) यत्नपूर्वक प्रह्लाद जी पूजा करना। यहाँ 'हरि के आगे' कहने के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है,—श्रीहरि की पूजा से पहले और दूसरा अर्थ है,—उनके (भगवान श्रीनृसिंहदेव के) सामने श्रीप्रह्लाद-महाराज की पूजा करनी होगी। दोनों अर्थ ही लिये जाते हैं। इसी से ही भगवान् श्रीनृसिंहदेव अत्यन्त प्रसन्न हुआ करते हैं।

प्रह्लाद का पूर्व इतिहास

श्रीप्रह्लाद महाराज, भगवान् श्रीनृसिंहदेव के नित्य-सिद्ध पार्षद हैं, फिर भी उनके सम्बन्ध में एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध हैं। श्रीनन्द-यशोमती श्रीकृष्ण के नित्य-सिद्ध पार्षद होने पर भी श्रीमद्भागवत में 'द्रोण और धरा' के रूप में जिस प्रकार उनकी एक साधक भूमिका भी देखी जाती हैं, उसी प्रकार बृहन्नारदीय पुराण में प्रह्लाद का पूर्व इतिहास वर्णित हुआ हैं। अपना पूर्व वृत्तांत जानने की इच्छा करने पर स्वयं भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने श्रीप्रह्लाद जी को उसे व्यक्त किया था, यथा—बहुत पहले अवन्ती नगर में 'वसुशर्मा' नाम के एक वेदज्ञ ब्राह्मण निवास करते थे। वे वैदिक क्रियाक्रम में ही सब समय व्यग्र रहते थे। किसी प्रकार का दुष्कार्य उनसे संभव नहीं था। इसीलिए वे देवताओं के भी विशेष प्रिय थे। इनकी पत्नी सुशीला भी उसी प्रकार अत्यंत सदाचार-परायणा थीं। पतिव्रता-रमणी के रूप में वह बहुत प्रसिद्ध थी। उनके क्रमशः पाँच पुत्र हुए। सभी पितृ-मातृ-भक्त थे। फलस्वरूप वे अत्यन्त सदाचारी और विद्वान बन गये थे।

किन्तु उनमें से 'वसुदेव' नामक सबसे छोटा और पंचम पुत्र ही व्यतिक्रमी हुआ। वह एक वेश्या के प्रति बहुत आसक्त था। फलस्वरूप वह अपने अध्ययन के विषय में बहुत उदासीन हो गया। यहाँ तक कि, क्रमशः वह शराबी होकर निःसंकोच कई प्रकार के पापकार्य करने लगा और उस विलासिनी के घर में ही दिन-रात पड़ा रहता। एक दिन किसी कारण से दोनों में बहुत झगडा हुआ। फलस्वरूप दोनों ने ही अत्यन्त क्रोध और अभिमान के वश में भोजन, निद्रा सब कुछ ही त्याग दिया। घटनाक्रम से उसी दिन श्रीनृसिंहदेव के व्रत का दिन था। अतः अज्ञानता के वश में भी

उनका वह अनाहार तथा अनिद्रा से रात्रि जागरण-सहित व्रतोपवास अनुष्ठित हो गया। किन्तु उन्हें इस बारे में कुछ भी पता नहीं चला।

फिर भी व्रतोपवास का फल कभी नष्ट नहीं होने वाला हैं। इसीलिए उस व्रत के प्रभाव से वह रमणी भी पवित्र होकर त्रिलोक का सुख लाभ करने की अधिकारिणी बन गई। स्वर्ग में उसने अप्सरा का जन्म लेकर बहुत प्रकार के सुख भोगने के बाद अन्त में श्रीनृसिंह लोक में प्रवेश किया। दूसरी ओर वे 'वसुदेव', भगवान् श्रीनृसिंह के प्रति परम विशुद्ध भक्ति लाभ कर 'प्रह्लाद' के नाम से विख्यात हुये। श्रीनृसिंहदेव ने इस प्रकार उनका पिछला इतिहास सुनाने के बाद अन्त में कहा,—"प्रह्लाद, जगत में भक्ति प्रवर्तन करने के लिए ही तुम्हारा अवतार हुआ हैं। कार्य होने के बाद तुम पुनः मेरे लोक में प्रवेश करोगे।"

भगवद्-पार्षदों के आविर्भाव का रहस्य

अतः समझा जाता है कि, भगवान् के पार्षद किसी कर्मफल के कारण नहीं बल्कि, भगवान् की इच्छा से किसी विशेष कार्य को करने के लिए ही जगत में आते हैं। भले ही उन्हें तब बाहरी दृष्टि से कई प्रकार के दुःख भोग करतें देखा जाता हैं, किन्तु वह दुःखों का भोग किसी कर्मफल के कारण नहीं, बल्कि उसके द्वारा जगत में हरि-भक्ति और हरि-भक्त की अशेष महिमा का केवल स्थापित करने के लिए होता हैं। नहीं तो अज्ञानी जीव उसे कैसे समझ पायेंगे? वे कार्य सम्पन्न कर दुबारा आनन्दपूर्वक भगवद्-धाम में लौट जाते हैं, और रख जाते हैं—अपनी परम-पवित्र परम-पावनी कीर्त्ति, जिसका श्रवण-कीर्तन करने से ही जगत के सभी लोगों का उद्धार हो जाता हैं।

प्रह्लाद का दैत्यकुल में आविर्भाव

वैष्णव-महाजन महाभागवत प्रह्लाद, भगवान की इच्छा से दैत्यकुल में आविर्भूत हुए थे। पिता—हिरण्यकशिपु एवं माता—कयाधु। हिरण्यकशिपु के भाई का नाम—हिरण्याक्ष था। दोनों ही जगत को डराने वाले महादैत्य थे। वास्तव में ये दोनों थे—वैकुण्ठ में भगवान् के दो द्वारपाल, 'जय' और 'विजय'। किन्तु 'चतुःसन' नाम के चार ऋषियों ने घटनाक्रम में एक दिन उनके प्रति क्रुद्ध होकर श्राप दिया था—'तुम लोग असुर कुले में जन्म ग्रहण करो।' इसीलिए उन दोनों

ने महातेजस्वी कश्यप-ऋषि और माता 'दिति' से महातेजस्वी दैत्यों के रूप में जन्म ग्रहण किया। उनके भूमी पर आते ही देवताओं के तेज में कमी आ गयी। ऐसा था दोनों का अमित प्रभाव। अतः बड़े होते ही वे देवताओं को स्वर्ग से खदेड़ कर त्रिभुवन पर क़ब्जा कर लेंगे—इसमें फिर आश्चर्य की क्या बात हैं?

हिरण्यकशिपु का विष्णु-विद्वेष

भगवान् श्रीवराहदेव एक समय पृथ्वी को रसातल से उठाते हुए जगत में (वराह रूप में) आविर्भूत हुए। हिरण्याक्ष उस समय अपने समान किसी को भी नहीं पाकर वीर-रस में उन्मत्त था। जब वह छाती ठोकते-ठोकते युद्ध के लिए जल के देवता वरूण के पास गया तो वरूण ने उससे कहा—"तुम्हें युद्ध का इतना शौक है। तुम्हारे इस शौक को हमेशा के लिए मिटाने में श्रीविष्णु ही एकमात्र समर्थ हैं।" तब से ही असुर-राज (हिरण्याक्ष) विष्णु के दर्शनों के लिए लालायित हो उठा। पूछते-पूछते अंत में वह वराह देव के सामने पहुँच गया। शुरु हो गया 'मारो, मारो, काटो, काटो' भीषण युद्ध। अन्त में भगवान् की लात खाकर हिरण्याक्ष अपने समस्त शौर्य-वीर्य के साथ धराशायी हो गया।

इधर भाई के निधन का समाचार कान में पड़ते ही हिरण्यकशिपु क्रोध में पागल हो गया—'क्या इतनी बड़ी बात! कौन कहता हैं—विष्णु समदर्शी हैं? तो फिर वे कैसे देवताओं का पक्ष लेकर मेरे भाई की हत्या करते हैं? हिरण्यकशिपु का भाई जानकर क्या उन्हें डर नहीं लगता? ठीक है, मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ, मैं विष्णु के रक्त से इस भाई का तर्पण करूँगा॥' यह तयकर हरिण्यकशिपु ने अपने अपने अनुचरों को बुलाकर आदेश जारी किया,—'सुनो, विष्णु ही हमारा मूल शत्रु है। उसी को केन्द्रित करके सारे देवता, ऋषि, जीव और धर्म आश्रय लेते हैं। ब्राह्मणों के यज्ञ का घी खाकर ही विष्णु जीवित हैं। अतः उन ब्राह्मणों का नाश कर पाने से यज्ञ के अभाव में तथा उन देवताओं, ऋषियों का वध करने से उसी शोक में विष्णु मर जायेगा। अतएव जहाँ-जहाँ जितना गोधन देखोगे, ब्राह्मणों को देखोगे, किसी वैदिक क्रियाकाण्ड का शब्द सुनोगे या फिर यज्ञ की लकड़ी के पौधों को देखोगे, उन-उन स्थानों पर जाकर उन्हें जलाकर नाश करा देना, सब मिटा देना। आज से धर्म बन्द। हम विष्णु को पेट से मारेंगे, जान से मार देंगे। जाओ-जाओ,

और देरी मत करो, जल्दी से जल्दी मेरे आदेश का पालन करो।' उसी के अनुसार अत्याचार पूरी तरह से आरम्भ हो गया। देवतागण परेशान होकर मनुष्य के वेश में यहाँ-वहाँ छिपकर रहने लगे।

इसके बाद दैत्यराज, भाई हिरण्याक्ष के स्त्री-पुत्रों को बहुत सांत्वना देते हुए कहने लगे,—'शोक मत करो। कौन कहता है कि हिरण्याक्ष मर गया हैं? आत्मा अमर, अजर है—उसका क्या कभी नाश होता है? जिस देह ने एक समय जन्म ग्रहण किया था, उसी का मात्र नाश हुआ है। और फिर वीरों की तरह लड़ते देह त्यागना —अहो, इसमें जैसा सौभाग्य और किसका है? देह में आत्म-बुद्धि होने से ही जितना शोक होता है, इसके समान अविद्या और कुछ नहीं है।'—इत्यादि कितनी सारी आत्म-तत्त्व की बातें! कहते है, —**"शैतान भी शास्त्रों की बात कह सकता है।"** किन्तु वह कितनी ही आत्म-तत्त्व की बातें जानता हो या कहता हो, आत्म-तत्त्व के जो मूल हैं, उन परतत्त्व विष्णु के प्रति भक्ति का यथार्थ रूप से सहारा न ले पाने पर आत्म-तत्त्व का ज्ञान व्यर्थ है। उससे वास्तव में शोक-मोह लेश मात्र भी दूर नहीं होता। इसी कारण से हिरण्यकशिपु आत्म-तत्त्व का इतना बड़ा उपदेशक होने के बाद भी शोक और बदले की आग में हर क्षण जलने लगा।

हिरण्यकशिपु ने पहले ही श्रीविष्णु को पेट से मारने की सारी तैयारी तो कर ही ली थी, अब उन्हें जान से मारने के लिए भी प्रस्तुत होने लगा। वह जानता था कि हिरण्याक्ष साधारण वीर नहीं था। देवतागण तो उसके हाथों की मैल थे, किन्तु जब विष्णु ने उसे भी मार दिया है तो उनके साथ इस बल को लेकर युद्ध में जीतना संभव नहीं हैं। इसके लिए चाहिए ऐश्वरिक शक्ति; और इसके लिए तपस्या की आवश्यकता है। ब्रह्मा जी से तपस्या के द्वारा उस ऐश्वरिक शक्ति को अर्जन करना होगा। इससे पहले उनसे अपनी मृत्यु पर रोक लगवानी होगी। तभी जाकर विष्णु के सामने जाया जायेगा। हिरण्याक्ष की तरह गलती,—नहीं भाई, और नहीं।

बस हिरण्यकशिपु तपस्या करने के लिए घर से बाहर निकल पड़ा। उद्देश्य—ऐश्वरिक शक्ति लाभ कर ईश्वर का विनाश करना। जिसका हथियार है, उसको उसी हथियार से घायल करना। वृकासुर ने भी शिव जी से वर पाने के लिए तपस्या की थी, अंत में वर प्राप्त कर वरदाता का ही विनाश करने के उनके पीछे पड़ गया था। इसीलिए कहते हैं—असुर भी तप करता हैं, किन्तु उससे उसका

फायदा क्या होता है। नारद पंचरात्र में कहते हैं—"श्रीहरि की आराधना करने के लिए तपस्या की क्या आवश्यकता है? और श्रीहरि की आराधना ही यदि उद्देश्य न हो तो फिर तपस्या की क्या आवश्यकता है?" किन्तु यह पाठ तो हिरण्यकशिपु जैसे असुरों के लिए नहीं है।

गर्भवास के समय ही श्रीप्रह्लाद की देवर्षि नारद से शिक्षा-प्राप्ति

जो भी हो, हिरण्यकशिपु के तपस्या में चले जाने पर देवतागण फिर संजीवित हो उठे। दुबारा उन्होंने स्वर्गलोक पर अधिकार कर लिया। इसी बीच प्रह्लाद भगवान् के निर्देशानुसार हिरण्यकशिपु के माध्यम से पत्नी कयाधु के गर्भ में प्रवेश कर गये। देवराज इन्द्र ने सोचा कि 'बच्चु हिरण्य की स्त्री गर्भवती है। 'बाप का बेटा' कहते ही हैं, इसलिए महा-असुर का बेटा और क्या बनेगा— एक और महा-असुर। तो उसका जन्म के समय ही विनाश कर देने पर पृथ्वी का भार हल्का होगा।' इसी तरह की बातों को सोचते हुए इन्द्र ने हिरण्यकशिपु की पत्नी का अपहरण कर लिया।

देवर्षि नारद—सर्वज्ञ हैं, वे इन्द्र के मन की बात तत्क्षण समझ गये। इसीलिए रास्ते में ही प्रकट होकर धावमान् इन्द्र का रोक लिया और कहने लगे, —"अरे भाई, क्या करते हो? इन्द्र, तुम किसे पकड़ कर के ले जा रहे हो? जानते हो इनके गर्भ में कौन निवास कर रहे हैं? श्रीहरि के एक परमप्रिय महाभागवत इनके गर्भ में हैं। उनके अंग में आघात करने से तुम क्या बचा पाओगे? सर्वनाश, तुम अभी इन्हें छोड़ दो।" सुनकर इन्द्र ने अत्यन्त भयभीत होकर कयाधु को उसी समय छोड़ दिया—क्योंकि वैष्णव-अपराध का परिणाम भयंकर होता है। बहुत पछतावा करते हुए वे उन महाभागवत के उद्देश्य से प्रणाम कर उनकी परिक्रमा करके अपने स्थान पर लौट आए।

नारद जी ने कयाधु से कहा—"चलो, बेटी, जब तक तुम्हारे पति लौटकर नहीं आते हैं, तब तक तुम सुरक्षित मेरे आश्रम में ही रहो।" सुनकर कयाधु निश्चिन्त हो गईं। और भी निश्चिन्त होने के लिए देवर्षि से अपनी इच्छानुसार संतान को प्रसव करने के सामर्थ्य की प्रार्थना कर वर ले लिया। इस प्रकार परम निश्चिन्त होकर प्रह्लाद

की माता नारद जी के आश्रम में निवास करते हुए परम सुख से साधुसेवा करने लगीं।

प्रह्लाद के भाग्य की सीमा नहीं थी—गर्भवास से ही उन्हें नारदजी जैसे परम-भागवत का संग लाभ करने का पूर्ण अवसर मिला। देवर्षि नारद गर्भस्थ प्रह्लाद को लक्ष्य करके माता कयाधु को अत्यन्त गम्भीर समस्त भगवत्-तत्त्व की कथा कहने लगे। शुकदेव जी जिस प्रकार गर्भ में रहते हुए भी पिता व्यासदेव से हरिकथा श्रवण करते थे, उसी तरह प्रह्लाद भी पूरा मन लगाकर श्रीनारद के मुखनिःसृत मधुर कृष्ण-कथा का श्रवण करने लगे। वे सब बातें स्त्री जाति कयाधु के हृदय-क्षेत्र में फलवती नहीं हो सकीं, किन्तु प्रह्लाद की उपजाऊ हृदय-भूमि में तत्क्षणात् अंकुरित होकर पत्र-पुष्प से पल्लवित एक विशाल कल्पवृक्ष में परिणत हो गई। गर्भ में रहते हुए ही प्रह्लाद जी ने दीक्षा-मंत्र प्राप्त किया और तभी से वे हरिनाम जाप करने लगे। कयाधु प्रतिक्षण हरिनाम की वह ध्वनि सुनकर चौंक उठती थीं।

हिरण्यकशिपु की तपस्या, सिद्धि-प्राप्ति तथा भीषण विक्रम

इधर दैत्यराज मंदर-पर्वत की एक गुफा में अमानुषिक कठोर तपस्या करने लगे—दोनों पैरों के अँगूठों पर खड़े होकर दोनो हाथ उपर उठाकर और दृष्टि ऊपर की और कर ली। प्राण-वायु को रोककर मन, बुद्धि आदि को एकाग्र कर आत्मा सन्निविष्ट कर लिया। इस प्रकार उनकी अद्वितीय तपोनिष्ठा को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। तपस्या के प्रभाव से माथे की सारी जटाएँ प्रलय के सूर्य के समान दीप्तिमान हो उठीं। कुछ समय बीतने पर माथे से धुएँ के साथ आग निकलने लगी, उससे ऊपर-नीचे के सारे लोक उत्तप्त हो गये, नदी-समुद्र में तूफान आ गया, धरती डोलने लगी, ग्रह-नक्षत्र सब इधर-उधर होने लगे, चारों ओर हाहाकार मच गया। देवताओं ने संकट सूंघ लिया—'सर्वनाश, इसका साधन सिद्ध नहीं हुआ हैं तो यह दशा हैं और सिद्ध हो जाने पर तो उत्पात की सीमा नहीं रहेगी!'

बहुत परेशान होकर सभी देवता, ब्रह्मा जी के पास पहुँचे, और कहने लगे,—विधाता, इस हिरण्यकशिपु की तपस्या की ज्वाला से समस्त लोक परेशान हो चुके हैं, चारों ओर विपत्तियाँ खड़ी हो गई

हैं। केवल आप ही उसको उस तपस्या से रोक सकते हैं। और उसकी तपस्या के उद्देश्य से भी आप निश्चित रूप से अनजान नहीं होंगे। वास्तव में उसने आपके ही पद पर कब्ज़ा करने का षड़यन्त्र रचा हैं। उसमें सफल हो जाने पर जगत के सारे नियम कानून उलट्-पलट् हो जायेंगे—सुख, ऐश्वर्य, मंगल, उन्नति सब हमेशा के लिए जगत से लुप्त हो जायेंगे। अतः आप सोच-समझकर स्वयं ही कोई रास्ता निकालिये।"

अंत में ब्रह्मा जी—भृगु, दक्ष आदि प्रजापतियों को साथ लेकर हिरण्यकशिपु के पास पहुँचे। पहले तो उसे पहचानना ही कठिन हो गया। बाद में मेघाच्छन्न (बादलों से ढके) सूर्य के समान उसके तेज को देखकर समझ में आया। दीमक के टीले से तब उसका सारा शरीर ढका हुआ था—यह टीला घास और बाँस की झाड़ियों से भर गया था। और टीले के भीतर अनगिनत चीटियाँ उसकी त्वचा, रक्त और माँस इत्यादि को खा चुकी थी, केवल अस्थियों के सहारे प्राण बचे हुए थे। उसके इस प्रकार के धैर्य को देखकर ब्रह्मा के भी आश्चर्य की सीमा नहीं रही, कहने लगे,—'उठो, उठो कश्यप-पुत्र! तुमने तपस्या में सिद्धि लाभ की है। तुम्हारी तरह तपस्या न तो पहले किसी ने की है और न ही भविष्य में कोई कर सकेगा। बिना जल के दिव्य एक सौ वर्षों तक प्राण धारण तुम्हारे अलावा और कौन कर सकता है? मैं तुम्हारे प्रति अति प्रसन्न हूँ। अब तुम अभीष्ट वर की प्रार्थना करो। बोलो, तुम क्या चाहते हो?" इतना कहकर ब्रह्मा जी ने अपने कमण्डल से दिव्य जल हिरण्यकशिपु की देह पर छिड़क दिया। उसी क्षण उस टीले से भेदकर दैत्यराज बाहर आ गये। —वज्र के समान वह शरीर, और उससे मानो कच्चे सोने का रंग झिलमिला रहा था।

हिरण्यकशिपु ब्रह्मा जी दर्शन कर गद्गद् हो उठा। बहुत प्रकार के प्रणाम और स्तव-स्तुति करने के बाद अंत में अमर, अजर होने का वर किस प्रकार ब्रह्मा से अलक्षित रूप (छल) से माँगा जाय, वही सोचने लगा। स्पष्ट रूप से अमरत्व का वर मांगने पर 'कल्प के अंत में हम सब ही मारे जायेंगे' यह कहकर वह वर ठुकरा दिया जायेगा। इसीलिए घुमा-फिरावर ऐसा वर मांगना होगा, ताकि अंत में वही अमरत्व ही लाभ हो सके।

दैत्यराज ने कहा,—आप वरदाताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं (अर्थात् ऐसा कोई वर नहीं है, जो आप दे नहीं सकते); इसपर जब आप मेरे

अभीष्ट वर को करने के लिए मन बना चुके हैं, तो मेरी प्रार्थना यह हैं कि, आपके द्वारा सृष्ट किसी प्राणी के हाथों मेरी मृत्यु न हो। मनुष्य या पशु द्वारा, घर में या बाहर, भूमि पर या आकाश में, दिन में या रात में तथा किसी अस्त्र के द्वारा कहीं मेरी मृत्यु न हो। प्राणी या अप्राणी, देवता या दैत्य, आप या आपके द्वारा सृष्ट कोई प्राणी—इत्यादि कोई भी मेरी मृत्यु का कारण न बने। जैसे आपका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है और आप जैसे समस्त लोकों तथा लोकपालों के एकछत्र अधिपति हैं, मुझे भी उसी प्रकार क्षमता-सम्पन्न कीजिये। तपस्या के द्वारा जो 'अनिम' (अनिमा, अणिमा)' आदि अष्ट-सिद्धियाँ लाभ होती हैं, जो किसी भी समय नष्ट नहीं होती हैं, मुझे वो सभी चाहिए।' [अणिमा की सिद्धि प्राप्त योगी अणु के समान सूक्ष्म-शरीर धारण कर लेते हैं।]

ब्रह्माजी, हिरण्यकशिपु की सारी चालाकी समझ गये। देवताओं ने भी उसके समस्त षड़यन्त्र के बारे में उन्हें पहले ही बता दिया था। भगवान् श्रीविष्णु के साथ द्वेष करने के लिए ही मूलतः इस प्रकार की प्रस्तुति है, वह समझने में उन्हें दिक्कत नहीं हुई। किन्तु वास्तविक सत्य यह है कि, समस्त प्रकार की क्षमताओं का अधिकारी होकर भी श्रीविष्णु के साथ प्रतिद्वंद्विता नहीं की जा सकती है—उनकी क्षमता और चातुर्य के बराबर कोई नहीं हो सकता, हो भी नहीं सकेगा। इसी सत्य और दृष्टांत को स्थापित करने का यही संभवतः उत्तम सुअवसर है। इसीलिए अंत में ब्रह्मा जी ने कहा,—'अच्छा, तुम जो चाहते हो, वह किसी भी प्राणी को लाभ नहीं हो सकता है। फिर भी मैं तुम्हें वो सब वर दे रहा हूँ। 'तथास्तु'। यह कहकर ब्रह्मा जी अंतर्धान हो गये।

'यही तो चाहिए'—हिरण्यशिपु दोनों हाथ ऊपर उठाकर आनन्द में गरजने लगा, 'हा हा हा' करते हुए भीषण अट्टहास करने लगा, उससे समस्त दिक्मण्डल सिहर उठा। गर्व से कदम बढ़ाते हुए, छाती ठोकते हुए उछलते-उछलते अपने स्थान पर वह लौट आया। आते ही उस महा-असुर ने त्रिलोक को जीत लिया। नन्दनकानन द्वारा शोभित स्वर्गलोक पर कब्जा कर वह विश्वकर्मा द्वारा निर्मित महा-ऐश्वर्यमय, बहुमूल्य रत्न-जडित 'महेन्द्र-भवन' मे निवास करने लगा। इतना भोग, भोग और असीमित भोग। उसे अब कौन देखेगा?

ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अलावा और जितने देवता तथा लोकपाल हैं, वे सब भय से उपहार हाथ में लेकर हिरण्यकशिपु की

पूजा करने के लिए प्रतिदिन प्रतीक्षा करने लगे। उसकी गर्जन, ठहाकों तथा दृष्टि-भंगिमा से सबके प्राण सूख प्राण सूख जाते थे। ऋषियों की तपस्या निषिद्ध हो गयी—ताकि तपस्या के द्वारा कोई और उसके समकक्ष न हो सके। पितरों को प्राप्त होने वाले श्राद्ध-पिण्ड तिलजल अब उसे मिलने लगे। सिद्धगणों को तपोबल से प्राप्त अष्ट-सिद्धियों छीन ली गई। विद्याधरों की निजी अन्तर्द्धान आदि विद्या पर मनाही हो गयी, नागगणों के रत्न तथा स्त्रियों का हारण कर लिया गया। मनुओं की वर्णाश्रम-मर्यादा सब लुप्त हो गयी, प्रजापतियों का सृष्टि-कार्य बंद करा दिया गया। संगीत में निपुण गंधर्व और अप्सराओं को एकमात्र उसी के गुणकीर्तन में नियुक्त किया गया, यक्षगण उसके शिविका (पालकी) वाहक बने, किन्नरगण उसके निःशुल्क नौकर बना दिये गये। पृथ्वी विना खेती किये ही फ़सलें उत्पन्न करने लगी। समस्त वृक्ष-लता वर्ष की छह ऋतुओं में ही एक समान फल-पुष्प देने लगे। सप्त समुद्र, लहरों के द्वारा उसके सामने रत्नों की राशि उड़ेलने लगे।

प्रह्लाद जी मातृ-गर्भ से जन्म एवं उनकी अप्राकृत गुणावली

हिरण्यकशिपु के लगातार बढ़ते अत्याचारों से ब्राह्मण, देवता तथा साधुओं का जीवन कष्टकर हो गया। शास्त्रों के नियम-कानून के रूप में कुछ भी नहीं बचा था। बल्कि शास्त्र-मर्यादा-लंघन ही नियम बन गया। देवताओं की अपनी कोई क्षमता ही नहीं रही—अग्नि का दहन, इन्द्र का वर्षण, वायु का संचालन इत्यादि सब कुछ ही हिरण्यकशिपु के अधीन हो गया। इस प्रकार की अवस्था और कितने दिन सहन की जाय? ब्राह्मणगण उठते-बैठते उसे अभिशाप देने लगे। लोकपालगण परेशान होकर आहार-निद्रा त्यागकर एकान्त मन से श्रीहरि को पुकारने लगे। तब मेघ-गंभीर स्वर में दैववाणी हुई—मा भैः! भय नहीं है। उस दैत्याधम की दुष्टता के बारे में मुझे सब कुछ पता हैं। उसके लिए व्यवस्था भी आरम्भ हो चुकी है। वह जितने भी वर प्राप्त कर ले, जितनी भी क्षमता अर्जित क्यों न कर लें—किन्तु देवताओं के प्रति, वेद, गाय, एवं धर्म के प्रति, ब्राह्मण, साधुगण तथा मेरे प्रति विद्वेष करने पर उसकी रक्षा नहीं है। शीघ्र ही उसके पुत्र के रूप में मेरा एक परम भक्त जन्म लेगा। हिरण्यकशिपु

जब उस पर भी अत्याचार करेगा, तब यह मेरे हाथों मारा जायेगा। तब तक तुम लोग शान्त होकर प्रतीक्षा करो।

भगवान् ने क्या कहा? सुना! देव, वेद, गाय, ब्राह्मण, साधु और भगवान्—उनके प्रति विद्वेष करने से, बहादुरी (अर्थात् दुष्टता) दिखाने की इच्छा करने पर उसका विनाश अनिवार्य है और अति शीघ्र ही होगा। केवल इतना ही नहीं, उस दैववाणी में एक और बात विशेष ध्यान देने योग्य है। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से वर पाते ही देरी नहीं की, देवतागण, वेद, धर्म, गाय, ब्राह्मण और यहाँ तक कि भगवान् का भी लंघन आरम्भ कर दिया। इससे उसका विनाश अनिवार्य होने पर भी अपने भक्त के प्रति द्रोहाचरण तक विनाश की प्रतीक्षा करना ही विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। अर्थात् यह सिद्धान्त कि देवता, वेद, गाय, धर्म, ब्राह्मण और साधु—इन सबके साथ भगवान् का सम्बन्ध रहने पर भी, सब में से भक्तों के साथ ही उनकी सर्वाधिक घनिष्ठता है। ठीक है, वही हो, किन्तु हिरण्यकशिपु का निधन तो होगा, इसी से लोकपरायण को परम शान्ति मिली। 'अरे भाई निधन होगा क्या, समझ लो कि निधन हो ही गया'—वे सब आपस में इसी तरह की चर्चा करने लगे।

हिरण्यकशिपु के तपस्या से लौटने के बाद ही देवर्षि श्रीनारद ने कयाधु को उसके स्वामी के पास पहुँचा दिया। शुभ घड़ी में कयाधु ने प्रसव किया, तब चारों ओर दिव्य ज्योति फैल गई। वैष्णव-महाजन जो आये हैं—भगवान् के हृदय-धन की बात जो है। सबके मन में अनजाने ही उस घोर अराजकता की स्थिति में भी एक दिव्य उल्लास का संचारण हुआ। बोलो, जय भगवत्-पार्षद-प्रवर श्रीप्रह्लाद महाराज की जय!

शिशु प्रह्लाद सबके लाड-प्यार से चन्द्रमा की कला के समान बड़े होने लगे। हिरण्यकशिपु के और तीन पुत्र थे—अनुह्लाद, संह्लाद तथा आह्लाद। सभी परम प्रभावशाली थे, किन्तु इनमें प्रह्लाद ही थे सर्वगुणों में श्रेष्ठ। उनके गुणों का अंत नही था—वे परम ब्राह्मण, सत्चरित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सबके सुहृद—बड़ों के प्रति सेवक की तरह नतमस्तक, कनिष्ठों के प्रति पिता तुल्य दीनवत्सल, समवयस्कों (समान उमर वालों) के प्रति भाई जैसे स्निग्ध-स्वभाव, रूप-गुण-विद्या-कुले में सर्वोत्तम होने पर भी अत्यंत निरंहकारी, प्रशान्तकाम, परमधीर, निःस्पृह—इत्यादि और कितने ही थे! सत्य बात तो यह हैं कि—भगवान् के जैसे-जैसे महद्गुण हैं, उनमें भी वैसे ही गुण हैं।

तनिक भी अतिरंजित (बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित) नहीं है; इसीलिए विद्वान लोग भी उनकी गुणराशि का कीर्तन कर स्वयं को पवित्र तथा धन्य समझते है। **'साधु कैसा? प्रह्लाद जैसा'**—विद्वेषी तक भी यही कहा करते थे।

यह तो हुई एक ओर की बात। उनके इन सब गुणों को देखकर कठोर हृदय के व्यक्ति भी पिघल जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर जो विशेष बात है, वह हैं उनकी अतुल हरिभक्ति। अहो, इसकी बात और और क्या कहूँ! जब वे बिल्कुल बालक मात्र थे, जिस समय में बाल-चंचलता और खेलने में मस्ती ही अत्यंत युक्ति संगत लगती है, उस समय भी कहाँ उनमें वह चंचलता थी, कहाँ खिलौने लेकर मस्त रहते थे! बल्कि वे श्रीहरि के स्मरण में तन्मय होकर जड वस्तु की तरह निढाल होकर पड़े रहते थे। जिस प्रकार जागतिक व्यक्ति ग्रहों मे फँसे रहते हैं उसी प्रकार वे कृष्ण-चिन्ता में ऐसे विभोर रहते थे कि जगत वास्तव में इस प्रकार कृष्ण-विमुख है, वे जानते ही नहीं थे। भगवान् के चिंतन मे ऐसे आविष्ट रहते थे कि, वे बैठे हैं, कि चल रहे हैं या फिर सो रहे हैं अथवा अपने खान-पान—किसी भी विषय में उनकी सुध नही रहती थी। प्रेमोन्मत्त होकर कभी वे रोते थे, कभी हँसते थे, कभी आनन्द में गान करते थे तो कभी अत्यंत उत्कण्ठा में "हे हरि, हे नाथ" कहकर चिल्ला उठते थे, कभी लज्जाहीन होकर नाचते थे, कभी फिर तन्मय होकर भगवान की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण करते थे। कभी भगवान् के अंग-स्पर्श कर आनन्द से रोमांचित हो उठते थे, तो कभी उनके विरह में स्तंभित हो जाते थे और उनके अर्द्ध-निमीलित नेत्रों (आधी मुँदी हुई आँखो) से निरन्तर अश्रुधारा बहती रहती थी। श्रीहरि के प्रति उनका प्रेम इसी प्रकार था—अचल, अटल।

प्रह्लाद के इस प्रकार अष्ट-सात्त्विक विकारों को देखकर साधारण अज्ञ व्यक्ति उनकी अप्राकृत महिमा का मूल्यांकन नहीं कर सकते थे। किन्तु उनका संग लाभ कर आसुरिक दुराशय तक श्रीहरिभक्ति लाभ कर कृतकृतार्थ हुए। वे भगवान् के नित्यसिद्ध पार्षद हैं। इसीलिए मातृ-गर्भ में रहते हुए भी उनका भक्ति-याजन जारी था। **"प्रह्लादः स्मरणे"**—नव-विधा-भक्ति में, स्मरणांग-भक्ति में, प्रह्लाद हैं—दृष्टान्त-स्वरूप। **"कीर्तन-प्रभावे स्मरण हइबे"**—(कीर्तन के प्रभाव से स्मरण होगा)—श्रवण-कीर्तन का मुख्य-तात्पर्य ही है भगवत्-स्मरण,

जिसमें प्रह्लाद-महाराज का अधिकार स्वाभाविक था—यही था उनका जन्मजात धर्म।

गुरु-गृह में प्रह्लाद एवं उनके ऊपर अत्याचार

अंत में विद्या आरम्भ करने की जो आयु होती है, वह प्रह्लाद की होने पर दैत्यराज ने यथानियम उन्हें गुरुगृह में भेज दिया। दैत्यगुरु शुक्राचार्य के दो पुत्र—'षण्ड' और 'अमर्क' बालक को शिक्षा देने लगे। किन्तु कौन जान सकता है कि, यह बालक साधारण नहीं है, एवं उसे समस्त शिक्षाओं का सार पहले ही प्राप्त हो चुका है? हरिकथा का आस्वादन जिसे प्राप्त हुआ है, उसे जगत के साधारण दण्ड-शास्त्र या नीति-शास्त्रों की बात क्या अच्छी लग सकती है? भले ही प्रह्लाद शिक्षक द्वारा बताये सभी पाठों को पढ़ते थे, फिर भी 'यह तुम्हारा मित्र है, यह तुम्हारा शत्रु है' इस तरह की मिथ्या मनोनिवेश की शिक्षा उन्हें अच्छी नहीं लगती थी।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने अत्यंत स्नेह से पुत्र को गोद में उठा लिया। 'शिशु की रुचि किसमें है'—यह परखने की उसकी खूब इच्छा हुई, पूछा,—"बेटा, तुम्हें सब वस्तुओं में से सबसे अच्छा क्या लगता है?" शिशु तो वैसे ही सरल होते हैं—अपने मन की बात को छुपाना नहीं जानते है। इसपर प्रह्लाद, कृष्ण-विमुखता या कृष्ण-विरोधिता कहकर कुछ है, उन्हें बिल्कुल भी पता नहीं था। कहने लगे,—'हे असुर-श्रेष्ठ, संसार में 'मैं', 'मेरा',—इस मिथ्या अभिनिवेश में सभी फँसे पड़े हैं। और इसमें ही जीव सब समय किस प्रकार भयभीत रहता है। **अँधे कुँए में गिर गिर जाने पर जिस प्रकार कुँए के बाहर और भी कुछ है, यह समझ में नही आता हैं, उसी प्रकार गृह अर्थात् संसार है इसी प्रकार का अन्धा कुआँ— उससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु है, इसे जानने का अवसर ही नहीं मिलता हैं।** फलस्वरूप इसमें आत्मा का महा अमंगल हो जाता है। अतः मंगल लाभ करने के लिए मुझे इस प्रकार के अन्धे कुँए को त्यागकर वन में जाकर श्रीहरि का आश्रय ग्रहण करना ही श्रेष्ठ लगता है।'

यह सुनकर हिरण्यकशिपु तो आश्चर्यचकित हो गया,—'बेटा कहता क्या है?' किसी ने निश्चय ही इसे यह सब सिखा दिया है। नहीं तो दूध पीने वाला बालक अपने आप ये सब बातें कैसे बोल सकता है? कोमल-बुद्धि है, जो सिखाया गया, वही कहता है। इसका क्या दोष है?' पुत्र-स्नेह में शिशु की बात को टालकर हँसने लगा।

हँसते हुए कहने लगे,—'छोटे बच्चे की बुद्धि है!' षण्डामर्क पास ही खड़े थे; उन दोनों को कहने लगे,—'सुना क्या कहा? अतः सावधान निश्चय ही वेश बदलकर विष्णु-पक्ष का कोई व्यक्ति आकर उसका इस प्रकार सर्वनाश कर रहा है।' पुत्र को गोद से उतारकर उन्हें सौंपते हुए कहा,—'जाओ, सावधानी से इसकी देखभाल करो। और कभी इस तरह की बातें इसके मुँह से हम दुबारा न सुनें।'

प्रह्लाद को दुबारा गुरु-गृह में लाया गया। षण्ड तथा अमर्क बहुत मीठे स्वर में पूछने लगे,—"प्रह्लाद, सच बताओ, तुमने यह सब कहाँ से सीखा? क्या यह तुम्हारा निजी विचार हैं या तुमने किसी और से यह प्राप्त किया है? इतने सारे बच्चों में तुम्हारी विचारधारा ही इस तरह से अलग क्यों है? सत्य बोलो, गुरु से झूठ नहीं बोलना चाहिये।" प्रह्लाद ने सोचा,—'अलग विचारधारा! मेरी! सत्य ही भगवान् की कैसी माया है! कहाँ तो ये सब ही संसार में 'मेरा' 'तुम्हारा' कहकर अलग विचारधारा के वश में पड़े हैं, और मुझे कहते हैं कि मेरी सोच अलग हैं! हे भगवान्, मेरी माया के ईश्वर हो तुम, तुम्हें नमस्कार है।' कहा,—"हे ब्रह्मण्, भगवान् की माया के प्रभाव से ही जीवों की 'मैं अलग हूँ' 'तुम अलग हो'—ऐसी भिन्न विचारधारा होती है—और इसी से सब में मूर्खता आकर बैठ जाती है। उन भगवान् की कृपा होने पर यह समस्त भेद-बुद्धि दूर हो जाती है और तब यह जान सकते हैं कि, जीवमात्र ही भगवान् का दास हैं और उसी कारण से वास्तव में सब एक सूत्र में पिरोये हुए हैं। और जब तक वह भेद-बुद्धि रहती हैं, तब तक भगवान् की माया के कारण अपनी ही बुद्धि का जो भेद या नाश है, वह कोई नहीं समझ सकता है तथा भगवान् को भी नहीं जान पाता हैं। यदि कहते है कि, 'हम सब तो एक ही असुर-वंश के हैं, तब हमारी बुद्धि से तुम्हारी बुद्धि अलग कैसे हुई?' तो उसके भी उत्तर में कहते हैं कि, उन भगवान् ने ही मुझे अलग बुद्धि प्रदान की है, नहीं तो मैं अपने से उसे कहाँ से लाऊँगा? सत्य कहता हूँ कि, आप लोगों से अलग कुछ करने या फिर आप लोगों का अपमान करने का मेरा कोई विचार नहीं है। किन्तु क्या करूँ, लोहा जैसे चुम्बक की ओर स्वाभाविक रूप से आकृष्ट होता है, उसमें लोहे की अपनी कोई स्वतंत्रता नहीं है, उसी प्रकार चक्रपाणि विष्णु के आकर्षण से मेरा चित्त भी सर्वदा उन्हीं की ओर दौड़ रहा है। मैं अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता हूँ।"

फिर वही विष्णु! यह सुनकर तो षण्ड-अमर्क का अंग जलने लगा। चिल्ला-चिल्लाकर डांटते हुए कहने लगे,—'अरे कौन कहाँ है? लाठी लेकर आओ। पैर से लेकर सिर तक पिटाई ही इसकी एकमात्र औषध है। हाय, हाय! दैत्यकुल में कहाँ से यह कलंक आ गया! दैत्यवंश रूपी चंदन-वन में ऐसा कंटीला पौधा! इस चन्दन वन को उजाड़ने के लिए ही क्या तूने विष्णु रूपी 'कुठार' का 'दण्ड' होने के लिए जन्म ग्रहण किया है? क्या सर्वनाश!" इस प्रकार से वे बहुत डाँट-फटकार लगाते हुए प्रह्लाद को भय दिखाने लगे। फिर राजपुत्र है, इसीलिए पुनः प्रयास कर उसे कड़ी सुरक्षा के बीच धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग का पाठ दिया जाने लगा। विष्णु-पक्ष का कोई व्यक्ति उसे बहका न सके, इस ओर भी उनकी कड़ी नजर थी।

प्रह्लाद तो स्वाभाविक रूप से विनीत-स्वभाव के थे—दंभ-अहंकार जैसा कुछ भी उनके स्वभाव में नहीं था। इसीलिए शिक्षक के द्वारा दिये गये पाठ, अच्छा नहीं लगने पर भी पढ़ने लगे। असल में उनके हृदय-सिंहासन पर तो श्रीहरि पहले से ही दृढ़तापूर्वक बैठे हुए थे। अब वे जितने भी पाठ पढ़ते, वे श्रीहरि पहले से ही दृढ़तापूर्वक बैठे हुए थे। अब वे जितने भी पाठ पढ़ते, वे श्रीहरि के अनुगत होने पर चित्त में स्थान प्राप्त कर जाते, अन्यथा स्मृति के कोठरी में मात्र कैद हो जाते—विरोध की कहीं सम्भावना नहीं थी। और इसमें षण्डामर्क को लगता कि, प्रह्लाद उनके पाठ में ठीक से मन लगा रहे है। कुछ दिन बाद उन्हें लगा कि प्रह्लाद पढ़ाई-लिखाई में बहुत दुरुस्त हो गये हैं, तो उनकी माता से उन्हें बहुत सुसज्जित करवाकर षण्डामर्क उन्हें दैत्यराज के पास ले गये।

प्रह्लाद ने पिता को देखते ही संग-संग भूमि पर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। पुत्र को अपने चरणों में इस प्रकार लेटे हुए देखकर हिरण्यकशिपु का हृदय पिघल गया। भूमि से उन्हें गोद में लेते ही पुत्र स्नेह में आँखो से निरन्तर अश्रु बहने लगे। ललाट को चुम्बन कर उन्हें कसकर सीने से लगा लिया। इसके बाद बहुत लाड़-दुलार करने के बाद पुत्र से पूछने लगे,—"प्रह्लाद, मेरे बेटे, गुरु से तुमने जो कुछ सीखा है, उसमें से श्रेष्ठ शिक्षा की बात कहो तो, सुनें।"

यहीं पर हो गयी गड़बड़ी, यदि कहा जाता कि,—'इन दो षण्डामर्क से क्या शिक्षा प्राप्त की है, उसे कहो, तो उनके द्वारा

प्रदत्त सारी शिक्षा को उगल देते। किन्तु, उन्होंने तो श्रीगुरु से पठित उत्तम शिक्षा की बात सुनने की ही इच्छा व्यक्त की है। 'गुरु'-शब्द सुनते ही प्रह्लाद के हृदय में स्थान लेने वाले जगद्गुरु श्रीनारद की बात उभर आयी—उनसे प्राप्त विद्या, और फिर उसमें से भी उत्तम हो! अहो, प्रह्लाद का हृदय स्वतः जैसे आनन्द से उछल पड़ा, प्राणों की वह बात कहने के लिए वे तत्काल मुखर (वाचाल) हो गये,—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥"

'उत्तम शिक्षा की बात सुनेंगे? तो फिर सुनिये,—इस कर्ण के द्वारा श्रीहरि की कथा का श्रवण (ऐसा होने से कान सार्थक होंगे), जिह्वा के द्वारा उनकी कथा कीर्तन (तभी जिह्वा सफल है), चित्त के द्वारा उनका स्मरण (तभी चित्त धन्य होगा), श्रीहरि का पादसेवन (परिचर्या), उनकी अर्चन (पूजा), उनका वन्दन (स्तव-स्तुति), श्रीहरि ही सबके प्रभु हैं, इसीलिए उनका दासत्व, वे ही सबके नित्य साथी हैं, इसीलिए उनके साथ सख्यता (मित्रता), वे आत्मा के भी आत्मा हैं, इसीलिए उनके प्रति आत्म-निवेदन—ये हैं भक्ति के नौ लक्षण। पिताजी! भगवान् श्रीहरि में समर्पित होकर इन नौ प्रकार की भक्ति का यथायथ रूप से अनुष्ठान करना ही मेरे विचार से श्रेष्ठ शिक्षा है —इसे ही मैंने श्रीगुरु से सीखा है।'

'क्या फिर वही बात!' हिरण्यकशिपु के क्रोधाग्नि मे जैसे घी की आहुति पड़ गयी, नेत्र विशाल करके दाँत पीसते हुए काँपते हुए होठों से षण्डामर्क को कहने लगे,—"समझा, तुम दोनों ही हो विष्णुपक्ष के छिपे हुए शत्रु! मेरे पुत्र को ये सब असार बातें सिखलाते हो, तुम्हारा इतना दुःसाहस!"

दोनों भाई काँपते-काँपते हाथ जोड़कर कहने लगे,—"महाराज, हम स्वयं ही ये बातें नहीं जानते हैं, और बाप के जन्म से भी कभी सुनी नहीं तो क्या सिखायेंगे? अन्य किसी से सीखी हैं, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि हम उसे कड़े पहरे में रखते हैं। हमने अपने अलावा अन्य किसी को भी उसके साथ मिलने-जुलने नहीं दिया हैं। इसके पेट मे ही इतनी बुद्धि है—अपने आप ही कैसे ये सब बातें सीखी हैं। दुहाई, आप हम दोनों पर बिना कारण दोष मत लगाइये।"

तब दैत्यराज का सारा क्रोध प्रह्लाद पर बरस पड़ा,—"रे कुलांगार! तेरी इतनी दुर्बुद्धि कहाँ से हुई? बोल! तुझे जब ये सब शिक्षा तेरे गुरु ने नहीं दी है, तो कहाँ से मिली है अभागे?"

प्रह्लाद अत्यंत शान्त भाव से हाथ जोड़कर कहने लगे, —"महाराज, जो लोग बेलगाम इन्द्रियों के फेर में पड़कर नरक पथ के यात्री हुए है, जो इस संसार में घूम-फिरकर एक ही चबाये हुए सुख-दुख को बारम्बार चबाते हुए चल रहे हैं, जो लोग 'संसार धर्म ही बड़ा धर्म है'—ऐसा मानकर संसार-व्रत को ही सार बना रहे हैं, वे चाहे कितना ही स्वयं प्रयास क्यों न करें, या वे चाहे जितना ही कर्मीगुरु, ज्ञानीगुरु या फिर योगीगुरु का आश्रम क्यों न करें, अथवा जितनी ही क्यों न वे 'सत्संग' के नाम पर आपस में ईष्टगोष्ठी करें, उनकी किसी भी दिन श्रीकृष्ण में मति नहीं हो सकती हैं। किस तरह से होगी? श्रीविष्णु ही जीवों के परम-पुरुषार्थ (परम प्रयोजन) हैं —जो यह नहीं जानते हैं, बल्कि जागतिक अर्थ को ही बड़ा समझते हैं, वे जितने भी वेद-पाठी क्यों न हों अथवा वेदान्ती क्यों न हों, वे दूसरों को भगवत्-पथ पर परिचालित नहीं कर सकते हैं। **"गुरु यथा भक्तिहीन, तथा शिष्यगण।"** जैसे एक अंधा क्या दूसरे अंधे को रास्ता दिखा सकता है? फिर भी यदि रास्ता दिखाना चाहे, तो क्या दोनों ही गड्ढे में नहीं गिरेंगे? अर्थात् मुक्त तो क्या होंगे, गुरु शिष्य को ही लेकर कर्मजाल में और फँस जाते हैं। अतः इस प्रकार किसी की कभी भी श्रीकृष्ण में मति नहीं होती है। केवलमात्र निष्किंचन साधु-गुरु की पद-धूलि में अभिषिक्त होने पर ही श्रीहरिचरणों में मति होती हैं, अन्यथा नहीं। और वह मति लाभ होना ही वास्तविक पुरुषार्थ हैं—जिससे जीवों का सारा दुःख दूर हो जाता है।"

फिर क्या कहना! कटे घाव पर मानो किसी ने नमक छिड़क दिया हो। क्रोध में पागल होकर पुत्र को गोद से उठाकर जमीनपर जोर से पटक दिया। आँखें लाल करके कहने लगा—"अरे, राक्षसों, कौन कहाँ हैं, अभी इस दुरात्मा को मेरी आँखो से दूर ले जाओ। इसका वध करना ही उचित हैं, अतः तत्काल इसे मार डालो। नीच! अपने पिता, रिश्तेदारों को छोडकर वह जिसने तेरे ही चाचा की हत्या की है, उसी विष्णु के ही पैर चाटता है! छिः! कहा नहीं जा सकता हैं, वह बालक ही मेरे भाई का हत्यारा विष्णु है। अतः इसी क्षण इसका वध कर दो।

और विष्णु-भक्ति! हूः मात्र पाँच वर्ष जिसकी आयु है, यदि इस आयु में पिता-माता के तीव्र स्नेह-बंधन को भी भूल सकता है, तो उसकी विष्णु-भक्ति कैसी! नहीं, नहीं—मैं इस कलंक को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं कर सकता हूँ। बल्कि, आज्ञाकारी होने से दूसरे के पुत्र को भी अपनी संतान के रूप स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इसे कदापि नहीं। शरीर का कोई अंग यदि सड़ जाय तो उसे काट कर निकाल देने से ही शरीर के बाकी अंगो की रक्षा की जाती है। उसी प्रकार इस दैत्यकुल को बचाने ले लिए पुत्र होने पर भी इसे मृत्यु-दण्ड देना ही एकमात्र उपाय है। जा, जा, इसे यहाँ से ले जा—जैसे भी हो, इसे जान से मार दो।"

जल्लाद राक्षस—उनके भयंकर चेहरे, बड़े-बड़े नुकीले दाँत, ताँबे जैसे बाल और दाढ़ी, डरावना मुख—दैत्यराज का आदेश पाते ही भयंकर शोर मचाते हुए वे प्रह्लाद को घसीटकर वध्य-स्थल पर ले गये। हाथ में शूल लेकर चारों ओर से 'मारो मारो' चिल्लाते हुए बड़ी बेरहमी से उनपर आघात करने लगे। किन्तु यह क्या! सारे शूल तो टूट गये! और प्रह्लाद के शरीर पर खरोच भी नहीं आई! उनका शरीर तो बहुत कोमल है, लेकिन वज्र की तरह अभेद्य है—राक्षस कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे। और भी भारी-भारी शूल लेकर वे फिर उनपर हमला करने लगे। किन्तु फिर वही बात—सभी शूल अंग से स्पर्श करते ही टूटकर बिखर गये और उल्टे उन्हींपर तीव्र वेग से आघात करने लगे। राक्षसों का पसीना छूट गया—वे ही खून से लथपथ होकर इधर-उधर भागने लगे। किन्तु प्रह्लाद निर्विकार हैं—वे आँखे बंदकर गम्भीर ध्यानस्थ होकर बैठे हैं। चारों ओर इतना कुछ हो रहा है, उन्हें पता ही नहीं चल रहा था।

इधर और भी बड़े-बड़े अनुभवी जल्लाद सब इकट्ठे हो गये। वे और भी भयंकर हैं—विशाल पके हुए वज्र की तरह शरीर। प्रह्लाद उनके सामने मानों सरसों के बीज के समान—हाथ से ही सिर को अलग करने में समक्ष हैं, इतनी उनकी क्षमता हैं। तीक्ष्ण धार वाले भारी खड़ग लाये गये—जिनके धार से भी कटे और भार से भी। किन्तु क्या आश्चर्य खड़ग खण्ड-खण्ड हो गये, लेकिन प्रह्लाद के शरीर में जरा सी खरोंच भी नहीं लगा पाये! उल्टे उन्हीं में से कोई काना, लंगड़ा होकर दर्द से कराहने लगा।

यह संवाद हिरण्यकशिपु तक पहुँचा। अविश्वसनीय! क्या कहते हो! 'हाँ महाराज, ये सब सत्य है, प्रह्लाद पूरी तरह अक्षत है। बल्कि

घायल हैं—राक्षसगण।' हिरण्यकशिपु को डर लगने लगा—तब तो उसकी हत्या करनी ही होगी, नहीं तो इसी से ही दैत्यकुल का सर्वनाश हो जायेगा। "जाओ, जाओ, हाथ पर हाथ धरकर बैठने से क्या होगा? अस्त्र के द्वारा वध नहीं हुआ तो क्या हुआ? आग में जलाकर मार दो, पानी में डुबाकर मारो, विष पान कराओ, पागल हाथी के द्वारा कुचलवा दो, विषैले साँपों के गर्त में फेंक दो—मरेगा नही मतलब? नहीं तो पत्थर पर पटक कर मारो, गड्ढा खोदकर जीवित ही दफना दो—जैसे भी हो, मैं उसकी मृत्यु चाहता हूँ। उसकी लाश को मेरे सामने लाकर मेरे दिल को तसल्ली पहुँचाओ। यही मेरा आदेश है!

सारे जल्लाद पूरे उत्साह से फिर लग गये। प्राण हरण करने पर ही 'जल्लाद' नाम सार्थक होगा, उससे उनके प्रभु का मन शांत होगा, और सबसे बड़ी बात—उपहार आदि तो मिलेंगे ही। उन लोगों ने अक्षरशः दैत्यराज का आदेश पालन किया—एक-एक कर सारे उपायों को अपनाया। किन्तु आश्चर्य, किसी से भी कुछ नहीं हुआ। वे सब थक कर चूर हो गये, किन्तु प्रह्लाद निर्विकार हैं। वे आग में जले नहीं, पानी में डूबे नहीं, निराहार रहकर सूखे नहीं, जीवन्त समाधि में सांस नही रुका, विषधर साँपों के दाँत टूट गये, मुँह में विष डालने पर भी व्यर्थ हो गया, पगले हाथी के पैर के नीचे रौंदने पर भी कुछ नहीं हुआ, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों से फेंका—किन्तु कुछ भी कारगर नहीं हो सका। प्रह्लाद का रूप-लावण्य बल्कि और बढ़ गया —वे कृष्णनाम के आनन्द में निमग्न होकर रहे। सभी दैत्य थक कर चूर हो गये और अवाक् नेत्रों से केवल उन्हें देखते ही रहे।

यही है—**"राखे हरि तो मारे कौन?"** गोविन्द जिन्हें सब समय आलिंगन करके रखते हैं, सहेजकर रखते है—**"गोविन्द परिरम्भितः"** (भाः ७/४/३८) उनका विनाश कौन कर सकता है? लेकिन प्रह्लाद ने मृत्यु के भय से 'हरि, हरि' नहीं किया था। 'हरि' उनके स्मृतिपथ पर सब समय स्वयं ही नृत्य करते हैं। प्रह्लाद को 'विपत्ति' का कोई आभास ही नही था—'अपना' 'पराया' के रूप में जिनकी कोई सोच ही नहीं है, जो किसी को भी शत्रु नहीं मानते हैं, भीतर और बाहर केवल 'हरि' की स्फूर्ति ही अनुभव करते हैं—उन्हें 'विपत्ति' की समझ ही कहाँ है और विपत्ति से रक्षा के लिए प्रार्थना भी कहाँ है! प्रह्लाद इसीलिए अपनी रक्षा के लिये तनिक भी चिंता नहीं करते थे, बल्कि हरि ही उनकी सर्वदा रक्षा करने के लिए हमेशा उत्सुक रहते थे।

श्रीहरि के प्रति जो पूर्ण-शरणागत हैं, वे इसी प्रकार सर्वदा सुरक्षित रहते हैं।

प्रह्लाद अंत में राजमहल में लौट आये—मृत-शरीर होकर नहीं, हरिनाम करते-करते। यह देख दैत्यराज का मन शान्त कैसे होता, जल-भुनने लगे। वीर पुरुष अब प्रह्लाद से ही भय करने लगे,—'क्या बात है, तो फिर वह अमर है क्या? कितनी तपस्या करके तो उसे इस प्रकार का अमरत्व लाभ हुआ है, और यह बालक बिना तपस्या के, बिना साधन के, ऐसा सामर्थ्य किस तरह प्राप्त कर सकता है!' वह देखो, वह फिर 'हरिबोल' 'हरिबोल' कर रहा है—उफ्फ कान फट जाते है! आश्चर्य है, समग्र त्रिभुवन को अपनी मुट्ठी में कर लेने के बाद भी वह उस शिशु—अपने ही वीर्य से उत्पन्न संतान का मुख किसी उपाय से बंद नहीं कर सका! उस चिर-शत्रु के नाम को अनन्त काल तक सुनना पड़ेगा! उफ्फ! कितना कष्ट!! क्या लज्जा!!! अब क्या कर्त्तव्य है? इसके साथ विरोध करने से न जाने अपनी ही मृत्यु न हो जाये—इस तरह से मुँह नीचा करके हिरण्यकशिपु बहुत सारी बाते सोचने लगा।

श्रीहरि के साथ शत्रुता करके, स्पर्धा करके कभी कोई जीत सकता है क्या? हरि का नाम सुनने से जिसके कान के पर्दे फट जाने को होते है, सिर में दर्द होने लगता है, ताकि कोई 'हरिनाम' न कर सके, इसलिए जो मंदिर आदि तोड़ता रहता है, जिसने ब्राह्मणों की पूजा-अर्चनादि बंद करवा दी है, ऋषि, मुनियों को तपस्या आदि करने के लिए मना कर दिया है, हरि की आराधना या याग-यज्ञ सब निषेध कर दिये है, करने पर मृत्यु का फ़रमान जारी कर दिया है, श्रीहरि ने उसी के घर में, उसी के वीर्य से उत्पन्न पुत्र के रूप में अपने पार्षद को ही भेजा है, अब उन्हें दमन करो तो देखे, उनका कीर्तन बन्द कराओ तो देखें, मृत्यु का फ़रमान जारी करो तो देखें। बल्कि स्वयं ही जलने-भुनने लगोगे। हरि के साथ विरोध? देखो न और क्या-क्या होगा!

हिरण्यकशिपु दुश्चिंता में कातर हो गया। गुरु शुक्राचार्य भी पास नहीं है, जो उसे परामर्श दे सकें। इसलिए गुरुपुत्र षण्डामर्क ही आगे आ गये, उसे झूठी सांत्वना देकर उत्साहित करने के लिए, —"महाजाधिराज! आप इस साधारण घटना से क्यों हताश हो गये हैं? क्या आप भूल गये हैं कि आप कौन हैं? आपके भौंहे तनने से ही इन्द्र, सूर्य, यम आदि समस्त लोकपालगण थरथर कांपते हैं,

एकमात्र आपने ही त्रिलोक पर विजय प्राप्त की हैं और प्रह्लाद, वो तो साधारण बालक हैं और आपक पुत्र हैं। उसका केवल एक ही दोष हैं, नहीं तो वह भी आपका अनुगत और शिष्ट पुत्र हैं। इसके अलावा वह अभी बालक है—बड़ा होने पर सब ठीक हो जायेगा। इसलिए आपको वृथा परेशान होने की आवश्यकता नहीं है।"

दैत्यराज ने कहा,—"सत्य तो है, सत्य तो है, चिन्ता की कोई बात नहीं है। किन्तु अब इसे लेकर क्या किया जाय, जरा बोलो तो सही।" "महाराज, गुरु शुक्राचार्य जब तक नहीं आते हैं, तब तक आप इसे निगरानी में रखिये, ताकि यह कहीं भाग न जाय। और शुक्राचार्य के आ जाने पर तो कोई चिंता ही नहीं। उमर होने पर विशेष रूप से आचार्य की संगति से उसकी वह दुर्बुद्धि अपने आप ही चली जायेगी।" हिरण्यकशिपु ने चैन की सांस ली,—"अच्छा वही हो। तब तक तुम इसे गृहस्थ राजाओं के धर्म की ठीक तरह से शिक्षा लेने में व्यस्त रखो, ताकि उसे वो सब 'हरि' 'हरि' करने का अवसर ही न मिले।

फिर वही अनापशनाप शिक्षा! फिर वही अमेध्य-भोजन की दुर्गन्धमयी डकार! ओह, इससे तो शरीर पर धारदार अस्त्राघात, मुख में तीव्र कालकूट विष, सीने पर भारी पत्थर का भार—ये सब ही हज़ार गुणा अच्छे थे! किन्तु इस प्रकार के भगवद्-विमुख लोगों का संग और उनकी सार-शून्य शिक्षा से प्राण रक्षा करना ही प्रह्लाद के लिए कठिन हो गया।

प्रह्लाद के द्वारा दैत्य-बालकों को शिक्षा-दान

एक दिन दोनों शिक्षक ही किसी कार्य से घर से बाहर गये। और कहावत है,—"बामुन गेल घर, तो लोगल तुले धर।" (अर्थात् ब्राह्मण गया घर, तो हल उठाकर चल)। इसीलिए मौका पाकर सभी दैत्य-बालकों ने आनन्द से खेलना शुरू कर दिया—शिशुओं के कलरव से विद्यालय का आंगन सहसा खिल उठा। वे प्रह्लाद को भी खेलने के लिए बुलाने लगे,—"आ प्रह्लाद, आ चल खेलते हैं, देख ना कितना मज़ा है!" किन्तु प्रह्लाद तो इस तरह का मज़ा लेना जानते ही नहीं—उनका 'मज़ा' तो केवल श्रीहरि को लेकर ही हैं। सहपाठियों के बुलाने पर प्रह्लाद के मन में बल्कि एक प्रबल करुणा का उदय हुआ,—'हाय, हाय! जीवन का इतना अमूल्य समय वे इस

प्रकार बेकार मज़े करने में ही गवा रहे हैं!' उन्होंने शब्दों से सबको पास बुला लिया।

प्रह्लाद एक तो राजपुत्र, फिर रूप, गुण, विद्या, गांभीर्य में सबसे श्रेष्ठ—अतः उनके प्रति सहपाठियों में एक स्वाभाविक गौरव बुद्धि थी। और प्रह्लाद के व्यक्तित्व में इस तरह का एक स्नेहाकर्षण था, जिसे लंघन करना किसी के लिए संभव नहीं था। इसीलिए वे सरल-हृदय बालक, प्रह्लाद के बुलाने पर खेल छोड़कर चारों ओर से उन्हें घेरकर बैठ गये। शिशुओं के लिए यह भी एक तरह का खेल है। और प्रह्लाद ने मित्रों इस तरह से घनिष्ठ होते देख दिल खोलकर बातें करना शुरू कर दिया,—

"आज हम एक नयी बात की चर्चा करेंगे—तुम लोग इसमें इतना आनन्द पाओगे कि यह सब खेलकूद भी उसके सामने कुछ नहीं है। हम सब अभी बालक हैं, क्यों ठीक हैं न—लेकिन ऐसा मत सोचना कि, इस समय असार विद्या अर्जन करना और बाकी समय खेलकूद में व्यतीत करना ही हमारा एकमात्र कार्य है। बिल्कुल नहीं है। इस बचपन से ही भागवत-धर्म का पालन करना होगा, तभी जन्म सार्थक होगा। यदि कहो कि, 'क्यों बड़े होकर भी तो करने से होगा', किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानते हैं कि मृत्यु का कोई समय-असमय नहीं होता है। यदि कहते हो कि, 'तो क्या, अगले जन्म में किया जायेगा', इसपर मैं कहता हूँ कि—भाई, मानव जन्म लाभ करना क्या इतना ही सहज है? शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है,—यह बहुत ही दुर्लभ है। और कहते भी है कि—'नरतनु भजनेर मूल' (मनुष्य शरीर भजन का मूल है) अर्थात् परमार्थ लाभ करना एकमात्र मानव जन्म में ही संभव है—पशु जन्म में क्या वह होता है, बोलो तो? और शिशु काल से ही इस धर्म का अभ्यास नहीं करने पर बड़े होने पर करोगे, ऐसी आशा मत करना। क्योंकि कहते हैं कि,—**"काँचाय ना नोयाले बाँस, पाकले करे टाँश-टाँश"** (अर्थात् तरूण अवस्था में बाँस को झुकाया जाता है, पके बाँस को झुकाने पर वह टूट जाता है)।

संभवतः कहोगे, भागवत धर्म क्या वस्तु है भाई? तो सुनो, कहते है,—वह और कुछ नहीं है, भगवान् श्रीहरि के प्रति आत्म-समर्पण है—'हे हरि, मैं आज से तुम्हारा हुआ' इस प्रकार। सोच रहे हो, वह 'हरि' फिर कौन हैं? वे हमारे कौन लगते हैं?' अरे भाई, वे ही तो हैं हमारे सबकुछ—वे हमारी प्रिय आत्मा हैं, हमारे एकमात्र प्रभु हैं, फिर सखा हैं। इसीलिए उनके श्रीचरणों का भजन नहीं करके

जो कुछ भी करेंगे, उससे व्यर्थ आयु मात्र नष्ट होगी। यदि कहते हों, क्यों व्यर्थ होगी, तो सुनो,—इस संसार में सुख-दुख सबके लिए पूर्व कर्मों के अनुसार निर्दिष्ट हो रखा है। हम चेष्टा करें या न करें, वे सब पूर्व कर्मों के अनुसार निर्दिष्ट हो रखा हैं। हम चेष्टा करें या न करें, वे सब सुख-दुख, हमारे पास आ ही जायेंगे। अतः उसके लिये सत्य बात तो यह है कि किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है। एक श्रीहरि के चरणकमल भजन करने मात्र से ही सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। इससे इतना मंगल होता है कि उसका सामान्य अंश भी अन्य किसी उपाय के द्वारा प्राप्त नहीं होता है। इसीलिए जो लोग सही अर्थ में बुद्धिमान हैं, वे संसार के दुख से विचलित नहीं होते हैं, बल्कि शरीर में जब तक सामर्थ्य है, आयु है, तब तक हरिभजन करते रहते हैं।

अच्छा बोलो तो हमारी आयु कितने वर्ष की है? सौ वर्ष; इनमें क्या-क्या करते हैं, सोचकर देखो। 'खाओ, पीओ, मौज मनाओ' कहकर जो लोग खूब मज़े करते हैं, अनियंत्रित होकर इन्द्रिय-तर्पण करते हैं, उनकी आयु उसी पाप से आधी हो जाती है। जो बचीखुची रहती है, वह भी कितने समय केवल नींद मे बीत जाती है—सोच कर देखो। जन्म के बाद बालपन तक हमें अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीम होता हैं—इस अवस्था में अनजाने में ही दस साल बीत जाते हैं। किशोर अवस्था होने पर खेलकूद में ही पता नहीं दस साल और जीवन के अंतिम भाग में जरा-ग्रस्त होकर बीस साल तो रोग-शोक में कट जाते हैं। और बीच में यौवनकाल? और मत कहो, गृहासक्त होकर अप्रतिरोध काम और भीषण मोह के चक्कर में पड़कर क्या वास्तविक कर्त्तव्य के अनुसंधान का समय मिलता है? स्त्री-पुत्र परिजन के प्रति तब प्रबल आसक्ति के वशीभूत होकर उनका पालन-पोषण करना ही उस समय एकमात्र कार्य समझा जाता है। उसी में वह इतना मग्न हो जाता हैं कि, इससे उसकी अपनी आयु-क्षय होती जा रही है, हरिभजन-रूपी परमार्थ से वह वंचित होता जा रहा है,—यह समझने की भी उसे फुर्सत नहीं मिलती। हालांकि एक तुच्छ कौड़ी खो जाने पर ही छाती फट जाती हैं। हाय, हाय, लोग किस तरह से रिश्तेदारों के लिए पागल हो जाते हैं, देखो, संसार में उसे हर कदम पर दुख ही दुख मिलता है, फिर भी वह संसार के प्रति विरक्त नहीं होता है! तुम लोग रेशम के कीड़े की बात तो जानते ही हो। बोलो तो रेशम का कीड़ा क्या करता है?

वह अपनी लार (थूक) से अपना घर बनाते-बनाते उस घर से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं रखता है और उसी में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। ठीक उसी प्रकार संसार में आसक्त लोग होते हैं।

वह कुटुम्ब-आसक्ति किस प्रकार की है, सोच सकते हो! चोरी करते पकड़े जाने पर पिटाई, जेल में कैद आदि अनिवार्य, और पकड़े नहीं जाने पर भी मृत्यु के बाद यम-यातना निश्चित है—यह सब जानते हुए भी वे इस काम से पीछे नहीं हटते हैं! केवल अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित लोग ही इस प्रकार कुटुम्ब-आसक्त होकर गलत कार्य करते हैं, ऐसा सोच रहे हो? बहुत शिक्षित व्यक्ति भी इसमें किसी से पीछे नहीं हैं। हरि-विमुख होने के कारण वे सभी कामासक्त होकर स्त्री के अधीन हो जाते हैं और पुत्र-कन्या, नाती-पोते के प्रबल-बंधन में जीवन बिता देते हैं। इसीलिए कह रहे हैं कि, श्रीहरि से विमुख होकर कितनी ही शिक्षा क्यों न अर्जन करो, उसके द्वारा शोक-मोह-भय किसी भी तरह से दूर नहीं होता है। इसीलिए दुःख भी समाप्त नहीं होते हैं।

अतएव, सत्य कहता हूँ कि,—यदि मंगल चाहते हो तो, इस प्रकार संसारासक्त लोगों का संग दूर से त्यागकर आदिदेव श्रीहरि की शरण में जाओ। उनकी शरण लेने के लिए उम्र का कोई बंधन नहीं है, और उन्हें प्रसन्न करना भी बिल्कुल कष्टकर नहीं हैं। 'आज से ही श्रीहरि क्प प्रसन्न करके चलूँगा',—इस तरह के संकल्प से ही उनकी प्रसन्नता होती है। सोच रहे हो कि, उन श्रीहरि को कहाँ से प्राप्त करूँ ताकि उन्हें प्रसन्न कर सकूँ? तो सूनो—वे श्रीहरि सभी प्राणीयों में अवस्थित हैं,—ब्रह्मा से आरम्भ कर तिनके तक उत्तम-अधम जितने भी प्राणी हैं, सभी प्राणियों में वे हैं। भूमि-जल-अग्नि-वायु-आकाश—इन पंचभूत में हैं और जगत में जितनी भी जड़ वस्तुएँ हैं, उन सब में हैं। अर्थात्, सबकुछ में ही वे हैं, किन्तु सबकुछ से ये अलग रूप में अवस्थित हैं।

अतः यह आकाश-वायु, नदी-नाले, पेड़-पौधे, घर-मकान, मनुष्य-पशु, प्राणी-अप्राणी जितना ही कुछ देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो—सभी के अन्तर्यामी रूप में श्रीहरि अवस्थान कर रहे हैं। केवल उतना ही नही, श्रीहरि यदि वहाँ-वहाँ नहीं रहते, तो फिर किसी का भी कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। अतः इन सब को एक तरह से हरि का ही दृश्य-रूप कहा जा सकता है। सोच रहे हो, इसी तरह का श्रीहरि का स्वरूप है क्या? नहीं, ऐसा नहीं है; वे

वास्तव में इन सबसे अलग हैं—इन सब रूपों के द्वारा उनके अपने रूप का पता नहीं चलता है। लेकिन उन्हें अनुभव किया जा सकता है, कैसे जानते हो? अहो, वे केवल आनन्द स्वरूप हैं, आनन्द ही आनन्द—उनको अनुभव कर पाने पर किसी को कोई भी कष्ट नहीं रहता हैं। और उनका अपना रूप, ऐश्वर्य, वैभव—सब कुछ है तथा इन सबका कोई अंत नहीं है, और कोई तुलना भी नहीं है। लेकिन उन्होंने अपनी माया के द्वारा उसे हमसे मात्र छिपाकर रखा है। उनके प्रति भक्ति के द्वारा जब यह माया अतिक्रम होती है, तभी मात्र उनके अपने रूप, ऐश्वर्य—सब कुछ को अपनी आँखो से देखा जा सकता है।

तब क्या समझ गये हो कि श्रीहरि इस जगत में किस प्रकार अवस्थान करते है? सब ने एक स्वर में कहा—'हाँ समझ गये हैं, यह आकाश-वायु, नदी-नाला, पेड़-पौधे, घर-मकान, मनुष्य-पशु, प्राणी-अप्राणी, सब श्रीहरि के रूप हैं, और वे फिर सबसे अलग है।' 'वाह, बहुत बढ़िया—प्रह्लाद के उत्साह की सीमा नहीं रही—'इसीलिए किसी के प्रति हिंसा, द्वेष-भाव नहीं रखना—यह सब आसुर-भाव हैं; इसे छोड़कर सबसे सबके प्रति दया और मित्रता का भाव रखना, ठीक हैं न? तभी श्रीहरि संतुष्ट होंगे। वे हैं सबके मूल, अतः उनके संतुष्ट होने पर किसी को कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता हैं (अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो जाता है), समझ लेना। उनके नाम, उनके गुणगान-कीर्तन में कितना आनन्द है, उसे एक मुख से मैं कितना कहूँ—मुक्ति की आकांक्षा वहाँ क्या आवश्यक है? और धर्म-अर्थ-काम की चर्चा करने से भी क्या फल मिलेगा? हम विद्यालय में इन्हीं सब विषयों की ही तो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं—किन्तु इससे कहाँ तक आवश्यकतायें पूर्ण होती हैं? केवल कुछ समय के लिए थोड़ी सी सुविधा मात्र ही लाभ होती हैं, बस। कहो तो इतनी बुद्धि, इतना परिश्रम खर्च करके केवल कुछ सामयिक (अस्थायी) सुविधा की व्यवस्था करना कितनी मुर्खता है। बल्कि, परिश्रम सब परम पुरुष श्रीहरि में आत्मनिवेदन सहित लगाने पर नित्यकाल के लिए समस्त मंगल आकर हमारे साथी बन जायेंगे।

मैंने इतनी सारी बातें जो कही हैं, मत समझना कि ये सब प्रलाप (व्यर्थ बात) है। भगवान् श्रीनारायण ने देवर्षि श्रीनारद को ये सब बातें कहीं थीं और मैंने उन्हीं से यह सब सुना हैं।

सारे दैत्य-बालक चुप होकर सुन रहे थे—प्रह्लाद की बात सुनकर उनका सरल हृदय भी भक्तिभाव से भर गया। किन्तु अंत में श्रीनारद-ऋषि की बात सुनकर वे और कोई हिसाब नहीं मिला सके, कहने लगे—"हाँ रे भाई प्रह्लाद, हमारे शिक्षक तो ये दो गुरु पुत्र हैं—इनके अलावा तो और कोई नही है। और वे ही हमारे एकमात्र शासक हैं। तो उनके इस कड़े शासन के बीच इस अन्दर-महल में किसी साधु का संग प्राप्त करना क्या संभव है? तो फिर तुम्हें कैसे उन ऋषि-मुनियों का संग लाभ हुआ? सच बताओ।

प्रह्लाद उनके चेहरे पर उत्सुकता का भाव देखकर खुलकर बताने लगे कि, जिस समय वे मातृ-गर्भ में थे तथा पिता हिरण्यकशिपु तपस्या में चले गये थे, उस समय इन्द्र उनकी माता का अपहरण करके ले जाने लगे थे, तब रास्ते में नारद जी ने आकर किस तरह से उनकी रक्षा कर अपने आश्रम में स्थान दिया था और उस समय किस तरह से मातृ-गर्भ में रहकर ही नारद से उन्होंने हरिभजन का उपदेश तथा मंत्र इत्यादि प्राप्त किया था। कहने लगे,—सुनो भाई, वास्तविक साधुसंग लाभ होने पर, असुर-कुल में जन्म ग्रहण करके भी मैं किस प्रकार कृतार्थ हो गया हूँ, देखा न? यदि तुम लोग मेरी बात पर विश्वास करोगे, तो तुम्हारी भी श्रीहरि में एकनिष्ठ बुद्धि होगी और उससे तुम किस प्रकार कृतकृतार्थ हो जाओगे, वह तुम लोग स्वयं ही समझ जाओगे।

यदि जान सकते हो कि, हम लोग कौन हैं और श्रीहरि कौन हैं, तो इस संसार में रहना कितनी बड़ी भूल हैं, यह समझ सकोगे। इस जगत में हम जन्म लेने के बाद बड़े होते=होते अब 'बालक' बने है। इसके बाद और बड़े होकर युवक बनेंगे। किन्तु उसके बाद? शरीर और बढ़ नहीं सकेगा और प्रौढ़-दशा प्राप्त करेगा। और तभी से ही शरीर क्षय होना आरम्भ होगा, और कुछ समय बीत जाने पर-मृत्यु। इसके बाद कर्मफल के अनुसार फिर जन्म और फिर वही एक ही चक्र। ऐसे करके ही जन्म से मृत्यु तक जो छह प्रकार और फिर वही एक ही चक्र। ऐसे करके ही जन्म से मृत्यु तक हो छह प्रकार और फिर वही एक ही चक्र। ऐसे करके ही जन्म से मृत्यु तक जो छह प्रकार के विकार हैं, उन्हीं के वश में होकर ही हम सब प्राणी चक्कर काटते रहते हैं। किन्तु भाई, 'आत्मा' वस्तु का उस प्रकार का विकार नहीं हैं। वह इस शरीर में रहकर भी उससे अलग हैं—यहाँ तक कि मन, बुद्धि आदि सब से

अलग है। और यह शरीर ध्वंस होने पर ही वह आत्मा लेकिन 'अव्यय' हैं—उसका ध्वंस नही है, मृत्यु नही हैं—'मैं' कहने पर उसी आत्मा को ही समझा जाता है। इस जीवात्मा के साथ ही परमात्मा रूप में श्रीहरि अन्तर्यामी होकर सब में अवस्थान करते हैं—इसे तो मैं पहले ही कह चुका हूँ। जीवात्मा 'ज्ञान'-हीन होकर जिस शरीर में रहती हैं, उसी शरीर को ही 'मैं, मेरा' समझते हैं, फलस्वरूप—कई तरह के दुःखो में गोते खाते रहते हैं, किन्तु परमात्मा उस शरीर में रहकर भी निर्लिप्त, अनासक्त हैं—वे केवल साक्षी रूप में जीव के समस्त क्रिया कलापों को देखते हैं और निरपेक्ष होकर उसी अनुरूप फल प्रदान करते हैं।

इस परमात्मा को नहीं जानने के कारण ही आज हमारी यह दुर्गति है। उन्हें किस तरह से जाना जायेगा, यदि कहो, तो सुनो—एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करता हूँ। सोने की खान में सोने का जो ढेला मिलता हैं, उसमें सोने के अलावा और भी अन्य धातु रहते हैं। उस ढेले को अग्नि में तपाने के बाद धीरे-धीरे उससे सोना मिलने लगता है। उसी प्रकार इस देह-क्षेत्र में ही आत्म-तत्त्व-विचार के द्वारा परमात्मा श्रीहरि की खोज करनी होगी। सोने के ढेले में जिस तरह से 'नहीं, यह सोना नहीं है, वह भी सोना नहीं है' इस तरह करते-करते असली सोने को अलग किया जाता है, उसी प्रकार पंचभूत का यह शरीर या सभी वस्तुएँ, 'वे भी परमात्मा श्रीहरि नहीं हैं'—ऐसा समझकर उनके प्रति अनासक्त होना होगा। और जो श्रीहरि समस्त वस्तुओं में रहकर भी सबसे अलग रहते हैं, उनके लिए तत्पर होना होगा।

यह कोई बहुत मुश्किल नहीं है। श्रीहरि नें हमें 'बुद्धि' दी हैं। बुद्धि के द्वारा हम बहुत कुछ निर्णय ले सकते हैं। जैसे दूर से पुष्प की गंध पाकर उसे हम वायु का कार्य समझते हैं, भले ही वायु को आँखों से नहीं देखा जाता हैं। उसी प्रकार, बुद्धि द्वारा विचार करके श्रीहरि को नहीं देख पाने पर भी उनके समस्त कार्यों को अनुभव करनें में असुविधा नहीं होती है। फिर देखो—यह संसार स्वप्न के समान है। स्वप्न में कोई नहीं समझता है कि,—यह स्वप्न है, तब वह सत्य के रूप में ही सब को प्रतीत होने लगता है। ठीक उसी प्रकार ही सत्य के रूप में प्रतीत होने पर भी यह संसार वास्तव में स्वप्न की तरह ही असत्य है। हमारे अविद्या का यह स्वप्न टूट जाने पर, तब हम श्रीहरि के अपने जगत में स्वयं को

देख पायेंगे। यह भी हम उसी बुद्धि के द्वारा सोच सकते है। इसी प्रकार का निर्णय लेकर ही हमें श्रीहरि के लिए तत्पर होना पड़ेगा। तुम सबने इसे समझा कि नहीं? कठिन तो नहीं लग रहा है न?

'भक्ति-योग' क्या है?

सरल हृदय के बालक सब कह उठे,—"हाँ समझ रहे है। उसके बाद क्या?" प्रह्लाद दुगुने उत्साह से कहने लगे,—अब **जिस उपाय से श्रीहरि के प्रति हमारी रति-मति होती है, वह है 'भक्ति-योग'।** जितने भी उपाय है, उन सब में से यही सर्वश्रेष्ठ है,—इसे स्वयं श्रीहरि ने ही बताया है। तो फिर और कैसी चिन्ता? अब 'भक्ति-योग' क्या हैं, उसे सुनो—हरि के प्रतिनिधि-रूप जो श्रीगुरु हैं—उनकी सेवा, साधु-भक्तों का संग, हरिकथा में श्रद्धा, उनके गुण-कर्म का कीर्तन, उनके चरणकमल का ध्यान, उनकी श्रीमूर्ति का दर्शन-पूजन तथा सभी प्राणियों में श्रीहरि विराजित हैं,—ऐसा समझकर सबके साथ साधुभाव—इन सब के द्वारा सर्वप्रथम हमारी 'षड्रिपुओं' पर विजय होगी। 'षड्रिपु' क्या हैं, जानते हो? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य के रूप में छह शत्रू हम सब के मन में निवास कर महा-अशान्ति फैलाते हैं। उनके हाथों से रक्षा पाकर इस भक्तियोग का पालन करने पर ही श्रीहरि के प्रति हमारी 'रति' जाग उठेगी।

तब क्या होता है जानते हो? उस समय जीव अथाह आनन्द-सागर में तैरते रहते है। उस अवस्था में उनके सारे बंधन टूट जाते है, समस्त अज्ञानता का बीज निःशेष (पूर्ण रूप से समाप्त) हो जाता है। और सबसे बड़ी बात भगवान् के साक्षात्कार में जो सुख अनुभव होता है, अहो भाई क्या कहूँ, जगत का सारा सुख, यहाँ तक कि, मुक्ति का सुख, उसके सामने क्या है?

इसीलिए कहते हैं कि, श्रीहरि, जो हमारे परम बन्धु हैं, चिर-साथी हैं और जिनकी उपासना में भी कोई कष्ट नहीं है—उन्हें छोडकर विषय भोग के लिए व्याकुल होना मूर्खता नहीं है? यह धन, स्त्री, पुत्र, घर-मकान, जमीन-जायदाद—सभी तो क्षण-स्थायी हैं, अतः इनमें रखा ही क्या है? और स्वर्गसुख? मुख में भी नहीं लाना—वह भी कुछ दिनों के लिए होता है, बाद में वैसे का वैसा। किन्तु हरिभजन के संबंध में किसी दोष की बात कभी या सुनी जाती हैं क्या? अतः भाई पूरा मन लगाकर श्रीहरि का भजन करो।

इस जगत में कई लोग बहुत पढ-लिखकर भी संसार में विषयसुख-लाभ करने और दुःख मिटाने को ही बड़ा काम, बड़ा धर्म समझते हैं। इसीलिए वे लौकिक या वैदिक धर्म—सब कितनी ही दक्षता के साथ करते हैं और बार-बार करते रहते हैं। किन्तु उससे क्या होता है? कभी फल प्राप्त करते हैं, कभी नहीं करते और फिर कभी विपरीत फल भी मिल जाता है। हमेशा यदि अपनी इच्छा और चेष्टा के अनुरुप ही फल मिलता तो जगत में दुःख के रूप में कुछ नहीं रहता। बल्कि देखा जाता है कि,—जब तक सुख लाभ के रूप में कुछ नहीं रहता। बल्कि देखा जाता है कि,—जब तक सुख लाभ करने का उद्देश्य नहीं रहता हैं, तब तक सुख प्राप्त होता है और सुख लाभ करने का उद्देश्य लेकर कुछ चेष्टा करने पर ही दुःख आ जाता है।

जिस शरीर के लिए मनुष्य इतना प्रयास करता है, उस शरीर को लेकर ही एक दिन कुत्ते-सियार खींचतान करते हैं। अपने शरीर का ही जब यह परिणाम है, तो स्त्री-पुत्र, धन-जन की क्या गति होगी, सोचकर देखो? अतः इनके प्रति ममता करने से क्या लाभ हो सकता है? देखने पर तो ये 'अर्थ' जैसे लगते हैं, किन्तु वास्तव में ये शुद्ध-अनर्थ हैं। नित्यानन्द-रस-समुद्र ही जहाँ आत्मा का एकमात्र प्रयोजन है, वहाँ उन सब अनर्थों के द्वारा आत्मा का कौनसा उद्देश्य पूरा होता हैं, कहो तो ज़रा?

फिर देखो, मनुष्य संसार में पूर्व-पूर्व कर्मफल के कारण ही कष्ट भोग रहा हैं। अतः फिर उसी कर्म कें द्वारा हमारा कौनसा स्वार्थ सिद्ध हो सकता हैं? सभी कैसे 'कर्म कर्म' कहकर मतवाले हो रहे हैं, किन्तु देखो, इसी कर्मफल से ही जीव संसार में जन्म लेने को बाध्य होता है और फिर नये सिरे से कर्म आरम्भ होता है। फिर उसी कर्मफल से दुबारा जन्म लेना पड़ता है। अतः कर्म के द्वारा दुर्भोग का अंत किसी दिन होगा, ऐसा समझते हो क्या? इसीलिए कहता हूँ कि इन सब हरिविमुख धर्म-अर्थ-काम की व्यर्थ शिक्षाओं में समय नष्ट मत करो। बल्कि हम सबके जो प्रभु हैं, प्रिय और आत्मा-स्वरूप हैं, उन्हीं श्रीहरि का भजन करने पर केवल कल्याण ही कल्याण है—देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व कोई भी क्यों न हों, सभी उस कल्याण के भागीदार हो सकते हैं—सभी के लिए ही श्रीहरि का द्वार खुला हैं।

ब्राह्मण होकर या देवता होकर अथवा ऋषि होकर अथवा बहुत सदाचार पालन करके, यहाँ तक कि बहुत ज्ञान अर्जित करने पर भी श्रीहरि को संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। अथवा बहुत दान, तपस्या, यज्ञ, पवित्रता या व्रत-अनुष्ठान करके भी, उन्हें प्रसन्न किया जा सकेगा, ऐसा नहीं हैं। उपाय हैं—एकमात्र उनके प्रति निष्कपट शरणागति एवं अहैतुकी भक्ति, उसी शुद्ध-भक्ति से ही मात्र उनकी प्रीति होगी—बाकी सब केवल विड़म्बना ही है। उस भक्तियोग में अधिकार केवल सत्कुल-विशिष्ट व्यक्तियों को ही नहीं, बल्कि यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, पशु, पक्षी सब का ही समान अधिकार है —**"कृष्णभजने नाहि जाति-कुलादि विचार। जेई भजे, सेई बड़, अभक्त-हीन, छार॥"** (अर्थात् कृष्ण भजन में जाति, कुल आदि का विचार नहीं किया जाता हैं। जो भजन करता हैं, वही बड़ा है, अभक्त-हीन और तुच्छ है)। और सभी इस भक्तियोग के प्रभाव से अच्युत श्रीहरि का पार्षदत्व लाभ करते हैं, तब और किसी के भी पतन की आशंका नहीं रहती है। अतः इस संसार में श्रीहरि के प्रति ऐकान्तिकी भक्ति याजन करना तथा श्रीहरि के संबंध में ही समस्त का दर्शन करना—भाई, यहीं तक होती है समस्त पुरुषार्थ की चरम सीमा। इसे ही सब शास्त्रों ने त्रिसत्य के रूप में सर्वदा घोषित किया है।

इतना कहकर प्रह्लाद ने विश्राम लिया। किन्तु दैत्य बालक होने पर भी उन सहज सरल शिशुओं के हृदय में उन सब वीर्यवती बातों का प्रभाव नष्ट नहीं हुआ। सत्य ही शुद्ध-भक्तों के संग का जो प्रभाव हैं। उनके श्रीमुख से जो हरिकथा प्रवाहित होती है, वह साक्षात् श्रीहरि-स्वरूप हैं, अतः श्रीहरि की तरह ही अमित तेजःसम्पन्न हैं। इसीलिए वह जिनके कानों में प्रवेश करती है, उनका सारा संशय दूर हो जाता हैं, समस्त दुःसंग त्याग करने का बल प्राप्त कर वे महाबली हो उठते हैं तथा सब प्रकार की कपटता को छोड़कर शुद्ध-भक्ति पालन करने की अनन्यता प्राप्त करते हैं। दैत्य-बालकों को वही दशा प्राप्त हुई है—वे सर्वान्तःकरण से हरिभजन करने लगे। प्रह्लाद को घेरकर वे 'हरि हरि' बोलते हुए नाचने लगे।

इधर षण्डामर्क ने लौटकर जो दृश्य देखा उससे उनकी आँखे फटी की फटी रह गयी—"सर्वनाश, यह क्या हो गया!' 'अरे चुप! अरे चुप!'—कहकर वे गरजने लगे। किन्तु कौन किसकी बात सुने—सब बालक तो हरिनाम में विभोर हैं। 'रुक जा! लाठी लेकर आते

हैं, एक बार में भूत भगा देंगे।' किन्तु इसकी भी किसी को परवाह नहीं। क्या आश्चर्य! उन दोनों ने इतने दिनों तक इतनी चेष्टा कर इन कोमल मति बालकों की बुद्धि को सुन्दर ढंग से हरिविमुख करके रखा था—श्रीहरि के संबंध में कुछ भी मालूम नही होने दिया था। और कुछ क्षणों में ही इस दुष्टता की जड़—प्रह्लाद का संग पाकर वे इतकि जल्दी कैस बदल गये। अब ये उनसे भी डर नहीं रहे हैं! 'हरि' 'हरि' कहकर केवल नृत्य कर रहे हैं! ये शब्द महाराज के कान में पहुँचने पर रक्षा होगी क्या? नौकरी तो दूर, अब प्राणों की रक्षा करना भी मुश्किल हो गया है! काँपते-काँपते दोनों हिरण्यकशिपु के पास भागे चले आये।

प्रह्लाद के ऊपर हिरण्यकशिपु का आक्रमण एवं भगवान् श्रीनरहरि का आविर्भाव

"महाराज! सर्वनाश हो गया हैं"—दोनो गुरुपुत्र भय और उद्वेग से हिरण्यकशिपु के कदमों में गिर पड़े—"अब प्रह्लाद अकेला नही है। सैकड़ों प्रह्लाद हो गये है। हमारी बातों पर कोई ध्यान नही दे रहा है। प्रह्लाद के संगदोष से उन सबकी बुद्धि खराब हो गयी हैं—कोई नहीं बचा!" इसके बाद उन्होंने किस तरह से सब दैत्य-बालक कीर्तन-नर्तन कर रहे हैं—वह यथायथ सुना दिया।

क्या! सुनते ही हिरण्यकशिपु आग बबूला हो गया। हिंसक साँप के तरह वह हजारों साँपो की तरह फुँकारते हुए फड़कने लगा —क्रोध से मानों दोनो आँखों से आग की लपटें निकलने लगीं। फिर प्रह्लाद का बुलावा आ गया। सम्मन पाकर प्रह्लाद हाथ जोड़कर पिता के समक्ष उपस्थित हो गये—भड़क गये। उनकी अग्नि-मूर्ति के सामने यदि प्रह्लाद भय से थर-थराते हुए शिशु, उसे तनिक भी डर नहीं है! गुस्से से गरजते हुए दैत्यराज फट पड़े—रे कुलांगार, रे अधम! तू मेरे आदेश का उल्लंघन करता है! आज तेरी खैर नही है! आज मैं तुझे स्वयं ही यमलोक भेजूँगा। देखता हूँ, कौन आकर तेरी रक्षा करता है? पता है तुझे कि मेरे क्रुद्ध होने पर त्रिभुवन की क्या बात, लोकपाल तक थरथर काँपते हैं और तुझे कोई भय नहीं है? किसके बल पर तेरा इतना साहस हुआ है, कि तू मेरी अवज्ञा करता है? बोल!

प्रह्लाद हैं—जैसे स्थिर उज्ज्वल दीपशिखा—इतने उलाहने, इतने वाक्य-बाण, इतना वज्रपात, इतनी फुँकार, इतना तूफान, फिर भी उनमें

कोई कंपन नहीं। उन्होंने सभा के भीतर दीप्त कण्ठ से कहा,—महाराज, मैं जिस बल से बली हूँ, 'क्या वह केवल मेरा ही बल हैं? आप या जितने सब बलवान पुरुष इस जगत में हैं, क्या वे उसी बल से बली नहीं हैं? देखिये, उन परमपुरुष ने अपने बल पर ब्रह्मा से लेकर स्थावर-जंगम समस्त प्राणियों को वश में रखा हुआ है। वे ही हैं परमेश्वर—उनके साथ किसी की तुलना होती है क्या? हमारा जो इन्द्रियबल, मनोबल, धैर्यबल, देहबल है—सबके ही मूल स्त्रोत तो वे ही हैं। अतः उनके पराक्रम का क्या कोई अंत है? वे अपनी शक्ति के द्वारा ही पूरे विश्व की सृष्टि करते हैं, पालन करते हैं और संहार करते हैं। वे सर्वात्मा हैं—सबकी आत्मा कें भी आत्मा हैं। उन्हीं के प्रति आपका क्यों इतना आसुरिक भाव हैं, समझ नहीं आता। हृदय में इस प्रकार शत्रु-मित्र का भेदभाव नहीं रखकर, बल्कि आप सबके प्रति समभाव रखिये। अवशीभूत मन, भटके हुए मन की अपेक्षा बड़ा शत्रु और कोई नहीं है। काम, क्रोध-आदि छह शत्रुओं का किला तो वह मन ही है। अतः उन्हें नहीं जितकर 'दस दिशाओं को जीत लिया है' कहना क्या व्यर्थ बढ़ाई नहीं है? और जिन्होंने उसी मन को जीत लिया हैं, उनका शत्रु और वहाँ से आयेगा? शत्रु तो केवल अपने अज्ञानी मन की कल्पना है।

'खामोश'—दैत्यराज गरज उठे। कहते हैं—**"उपदेशो हि मूर्खानां प्रकोपाय न शान्तये।"** और वही हुआ। दैत्यराज शांत कहाँ होंगे, बल्कि दुगुने भड़क उठे,—अच्छा, अब तूने मुझे ही उपदेश देना शुरू कर दिया है! वाचाल! दाम्भिक! मेरे सामने खड़े होकर तू मेरी ही निन्दा करता है। इतना साहस! और तू बड़ा जितशत्रु बहादुर हैं! तेरी मृत्यु का समय निश्चय ही निकट आ गया है, इसीलिए जो नहीं करना चाहिए, वही सब कहता जा रहा है। बोल, अरे अभागे! तुझे तो मैंने ही जन्म दिया हैं, मैं ही तुझे खिला-पिला रहा हूँ, वस्त्र दे रहा हूँ—और मुझे ही छोडकर किसी एक हरि को कहता है भगवान्? इन तीनों लोकों में मेरे अलावा और कौन भगवान् हैं? कहाँ रहता है तेरा वह भगवान?

प्रह्लाद का निष्कपट उत्तर,—"क्यों पिताजी, वे मेरे अन्दर, आपके अन्दर, सबके अन्दर रहते हैं।" "बेकार की बात! हूः सबमें ही रहते हैं। तो फिर इस खम्बे में क्यों नहीं दिखते हैं? उत्तर दे।" प्रह्लाद ने उस खम्बे की ओर दृष्टि डालते ही देखा कि,—श्रीहरि उसके बीच में मुस्कुराते हुए खड़े हैं। हाथ जोड़कर अश्रु भरे नेत्रों से

गद्‌गद स्वर में कहने लगे—"आप क्यों नहीं देख पा रहे हैं—वही तो हैं प्राणनाथ श्रीहरि—साक्षात् विराजमान, कितनी सुन्दर है उनकी मुस्कुराहट, उनका रूप! देखिते!"

किन्तु हिरण्यकशिपु के लिए श्रीहरि एक निराकार, ठोस स्तंभ मात्र थे। उसके पास वे प्रेम-नेत्र कहाँ कि वह श्रीहरि के दर्शन पाकर धन्य हो सके? बल्कि प्रह्लाद को ही झूठा, ठग समझकर उससे और सहन नहीं हुआ। गरजते हुए कहने लगा,—"अच्छा, झूठ बोलकर और कितने दिन चलायेगा रे दुष्ट? ठहर जा, तेरा सिर धड़ से अलग करता हूँ—देखता हूँ स्तंभ में से निकलकर हरि कैसे तेरी रक्षा करता है?" कहते ही बिजली की फूर्ती से खड्ग हाथ में लेकर सिंहासन से खड़ा हो गया। किन्तु दूसरे क्षण ही, 'स्तंभ में यदि वह हरि रहता है, तो पहले उसी का विनाश करूँगा' यह सोचकर चिल्लाते हुए उसके ऊपर पूरे ज़ोर से मुक्का मारा।

उसी क्षण खम्बे में से प्रतिध्वनि सुनी गयी। और वह ध्वनि क्रमशः भीषण से भीषणतर होती गयी—मानो अभी ब्रह्माण्ड फट जायेगा। कर्णरन्ध्र बंड करने पर भी उस भयंकर निनाद से रक्षा पाना मुश्किल था। डर से सभी काँपने लगे। यहाँ तक कि ब्रह्मा आदि देवगण तक अपने-अपने स्थान पर उस भीम शब्द सुनकर आतंकित हो उठे। अचानक वह विशाल स्तंभ खण्ड-खण्ड होकर टूट गया। और उस स्तंभ में से अखिल-लोकेश्वर सर्वविघ्न-विनाशन भगवान् श्रीनृहरि प्रकाशित हो गये। जय श्रीभगवान् नृसिंहदेव की जय! जय भक्त्वत्सल भगवान् की जय! जय भक्तैकरक्षक श्रीनरहरि की जय! प्रह्लाद ने सच में ही स्तंभ में उनके दर्शन किये थे और वे सत्य ही सर्वत्र व्याप्त है, यहाँ तक कि निर्जीव स्तंभ में भी, अतएव प्राणियों में भी, और कहना ही क्या—इसी को प्रमाणित करने के लिए ही वे उस स्थान से आविर्भूत हुए।

श्रीहरिभक्तिविलास में (१४/४५५-४५६) भगवान् श्रीनृसिंहदेव के आविर्भाव का समय इस प्रकार वर्णित हुआ हैं—वैशाख मास में, शुक्लपक्ष में, चतुर्दशी-महातिथि में, सायंकाल में प्रह्लाद पर हो रहे अत्याचार को सहन नहीं कर सकने के कारण श्रीहरि प्रचण्ड शब्द के बीच, सभा में उपस्थित सभी लोगों को स्तम्भित करते हुए अनायास ही स्तंभ से भीषण गर्जन सहित आविर्भूत हुए।

हिरण्यकशिपु देखकर सोचने लगा—बाप रे यह क्या अद्‌भुत सृष्टि है! यह तो देखते हैं कि कोई नरसिंह है—न संपूर्ण मनुष्य, न

ही संपूर्ण सिंह। यह क्या ब्रह्मा की ही सृष्टि है? या फिर अन्य किसी की सृष्टि है? खम्बे मेम ही इसका जन्म कैसे हुआ? इस तरह बहुत प्रकार की युक्तियाँ लगाकर भी वे कुछ नहीं समझ पाया —मामला क्या है?

इधर भगवान् का उग्र रूप कौन देख सकता हैं! भक्त के प्रति द्रोहाचरण देखने पर उनके क्रोध की सीमा नहीं रहती है। सिंह जैसे अपनी संतान पर आक्रमण होते देख भीषण उग्र रूप धारण करता है, उससे भी करोड़ो सिहों की उग्रता तब भगवान् श्रीनरहरि में प्रकाशित हो गयी—कितने भयंकर प्राण सिकुड़ जाते हैं। उनकी दोनों नेत्रों की मणि जैसे जलता हुआ सोना; जटा खड़ी तथा केश से भरा विकट मुख—उसमें ओह कितने भयंकर दाँत और लपलपाती तीखी जिह्वा! क्या भयंकर भ्रुभंगिमा! उसके ऊपर ऊद्‌र्ध्वमुखी दो कान। विशाल नासिका-छिद्र—जैसे पर्वत की गुफा, कितनी भीषण और विदीर्ण उनकी तुड्डी! गगन-स्पर्शी उनकी देह—उसमें स्थूल ग्रीवा, विशाल वक्षःस्थल तथा क्षीण कटिदेश (कमर), चंद्र के प्रकाश की भांति सभी श्वेत रोयें। चारों दिशाओं में विस्तृत उनके सैकडों बाहु और उनमें शोभित नुकीले नाखून तथा पाषण्डदलन जितने शंख, चक्र, गदा, पद्‌म, वज्र आदि अस्त्र-शस्त्र।

इस प्रकार भीषण-रूपधारी भगवान् के दर्शन करके भी दैत्यराज के चित्त में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। प्रह्लाद के साथ विरोधिता करने के कारण उसका चित्त वज्र समान कठोर हो गया हैं। ब्रह्मा से वर पाकर वो अपने को 'अमर' समझ रहा था, और इसीलिए उसे इतना अहंकार था। किंतु उसी को भंग करने के लिए ही तो उस 'अद्भुत सृष्टि' का उद्भव हुआ—यह उसे कौन समझायेगा? हिरण्यकशिपु सिंहनाद करता हुआ गदा लेकर श्रीनृसिंहदेव की ओर भागा। किन्तु अग्नि में पतंगे के प्रवेश की तरह ही श्रीहरि के अंग से प्रकाशित तीव्र आलो (प्रकाश) की छटा में दैत्यराज लुप्त हो गया।

हिरण्यकशिपु ने क्रोध में गदा घुमाते-घुमाते ज़ोर से भगवान् श्रीअंग पर आघात किया। बस और कहाँ जायेगा! गरुड़ जैसे महासर्प को ग्रास करता है, उसी तरह भगवान् ने भी गदा सहित असुर को अपनी मुट्ठी में धर लिया और उसे लेकर खेलने लगे, ठीक जैसे गरुड साँप को मारने के पहले उससे खेला करता है। उसी खेल में हिरण्यकशिपु एक बार भगवान् की इच्छा से शिथिल हस्त से बाहर

आ गया और दूर जाकर इस तरह डींग हांकने लगा कि मानो 'भगवान् ही डर गये हैं, उसका ऐसा हैं युद्धकौशल!' और उधर भगवान् नृसिंह गरजते हुए द्वार पर जाकर प्रतीक्षा करने लगे। कुछ देर तक विश्राम करने के बाद दैत्यराज खड़ग और ढाल लेकर उस स्थान की ओर दौड पड़ा। उसके विनाश का समय जो हो गया है, उस काल के बुलावे पर उसके बिना कहाँ कोई उपाय है क्या?

'अमर' हिरण्यकशिपु का वध

हिरण्यकशिपु ठहाका मारकर शोर मचाता हुसा खड़ग लेकर चील के समान तीव्र गति से कभी आकाश में तो कभी भूमि पर विचरण करने लगा। किन्तु श्रीहरि के निकट आते ही उनकी तीव्र तेजोच्छटा में हिरण्यकशिपु को आँखे खोलकर रखना ही कठिन हो गया। फिर महावेगशाली उन श्रीहरि के निकट हिरण्यकशिपु का उधार में लिया हुआ सामर्थ्य कब तक टिक सकता है? गरुड़ जैसे साँप को मारने के लिए उसे पकडकर आकाश में उठाते हुए ज़ोर से ज़मीन पर पटक देता है, वैसे ही श्रीनृहरि ने हिरण्यकशिपु को मुट्ठी में भरकर ऊपर से ज़ोरदार ढंग से अपनी जांघ पर पटक दिया। उससे विवश होकर दैत्यराज का हाथ-पैर पटकना बंद हो गया— जबर्दस्त दर्द से 'माँ रे' 'बाप रे' कहते हुए कराहने लगा। प्रह्लाद ने तब कातर स्वर से पिता की सद्गति के लिए अंतिम चेष्टा करते हुए कहा,—

"मातस्तातेति मा ब्रुहि मरणे समुपस्थिते।
वद गोविन्द गोविन्द गोविन्देति पुनः पुनः॥"

—(हरिभक्तिसुधोदय)

(मृत्यु जब आपके सामने आ चुकि है तब मैया रे! बाप रे! ऐसा मत कहो! बार बार गोविन्द-गोविन्द कहते रहो)।

हे पिताजी! मृत्यु के समय क्यों व्यर्थ की बातें कर रहे हैं? 'गोविन्द' 'गोविन्द' नाम उच्चारण कीजिये।

किन्तु ऐसा होता है क्या? अपराधी-मुख से प्राण निकलते समय गोविन्द का नाम क्यों निकलेगा? हृदय तो उसका वज्र से भी कठोर है कि, पाषाण-भेदी इन्द्र के वज्राघात से भी उसकी त्वचा पर कोई प्रभाव नही पड़ सकता था। किन्तु उससे भी क्या? ये तो स्वयं श्रीहरि हैं—काल के भी कालस्वरूप हैं! हिरण्यकशिपु का वह वज्र समान हृदय चर्मकोष में ढके होने पर भी भगवान् श्रीनरसिंह ने

अनायास ही उसकी छाती में अपने भयंकर नाखून एक बार में अंदर तक घुसा दिये और क्षण भर में ही चीरफाड कर रख दी। उसी क्षण रक्त की बून्दों से उनका केशर-शोभित मुख-मण्डल रक्तिम (लाल) हो गया। वीर रस में उन्मत्त होकर वे जिह्वा द्वारा विस्फारित चेहरे के सामने के हिस्से को चाटने लगे—हाथी के निधन के बाद मत्त सिंह की तरह हिरण्यकशिपु के पेट से आंतडियों को निकालकर अपने गले में माला की तरह पहनने लगे। और उसके सीने में से दिल को निकालकर विजय की गरजन करने लगे। उनके उन तेजोद्दीप्त नेत्रों से आँख मिलाने की किसकी क्षमता थी?

'अमर' हिरण्यकशिपु क्षणभर में इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो गया। ब्रह्मा से कितनी चालाकी करके उसने वे सब वर माँग लिये थे—किन्तु अंतिम रक्षा कहाँ हुई? 'ब्रह्मा-रुद्र या अन्य किसी के द्वारा सृष्ट प्राणी से कहीं मृत्यु न हों'—किन्तु वे स्वयं श्रीहरि हैं, वे किसी के भी द्वारा सृष्ट नहीं हैं, वे ब्रह्मा-रुद्र आदि के भी सृष्टा हैं; 'मनुष्य या पशु के द्वारा मृत्यु न हो'—किन्तु ये न तो मनुष्य हैं और न ही पशु, ये तो 'नरसिंह' हैं; 'घर के अन्दर या बाहर नहीं'—इसीलिए द्वार पर; 'भूमि पर या आकाश में नही'—जांघ के ऊपर; 'किसी अस्त्र के द्वारा नहीं'—नाखून के द्वारा; 'दिन में या रात में भी नहीं'—संध्या के समय; हिरण्यकशिपु की कोई भी चालाकी श्रीहरि के सामने टिक नहीं सकी। इसीलिए कहा जाता है—"मारे हरि, तो राखे कौन?" "भगवान् की मार, दुनिया के बाहर।" नास्तिकों की डींग इसी तरह से ही अचानक समाप्त हो जाती है।

विष्णु पुराण में श्रीपराशर-मैत्रेय-संवाद में देखा जाता है—हिरण्यकशिपु ने भगवान् श्रीनृसिंहदेव का एक विशेष अद्भुत प्राणी समझा था, 'वे ही मारे जाने पर उसने परवर्त्ती त्रेतायुग में 'रावण' के रूप में जन्म ग्रहण कर त्रिलोक की भोग संपत्ति लाभ की थी। उस जन्म में वह काम में वशीभूत होकर जनक-नन्दिनी (सीता देवी) के प्रति आसक्त हो गया था और भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करके भी उन्हें भगवान् 'विष्णु' न मानकर साधारण समझा था। उस समय दुबारा भगवान् के हाथों से मृत्यु वरण करने के सौभाग्य से द्वापर युग में उसका 'शिशुपाल' के रूप में विख्यात चेदिराज वंश में जन्म हुआ था और वह प्रचुर ऐश्वर्य का अधिकारी बना था। श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं, इसलिए उन्हें वह 'विष्णु' मानता था। किन्तु पुरानी आदतों के कारण वह श्रीकृष्ण के प्रति अत्यन्त विद्वेष करने

लगा—स्नान, भोजन, शयन, स्वप्न, भ्रमण सभी अवस्थाओं में श्रीकृष्ण की निंदा करना ही उसका एकमात्र कार्य था। फलस्वरूप अनजाने में भी आदेश सहित सब समय कृष्णनाम-उच्चारण, कृष्ण-रूप-चिंतन आदि हुआ करता था। फलस्वरूप उसका समस्त अमंगल दूर होता चला गया। इसीलिए अंतिम समय में जब श्रीकृष्ण ने उसका संहार करने के लिए सुदर्शन चक्र को चलाया, उसी समय में जब श्रीकृष्ण ने उसका संहार करने के लिए सुदर्शन चक्र को चलाया, उसी समय उस चक्र की तेजोच्छटा के बीच उसने परब्रह्म भगवत्-स्वरूप के दर्शन किये थे। वही दर्शन करते-करते चक्र के आघात से मारे जाने पर उसे मुक्ति लाभ हुई। इस तरह तीन जन्म पार करने के बाद हिरण्यकशिपु ने उद्धार लाभ किया।

इधर हिरण्यकशिपु की मृत्यु को देखकर सारे असुर पगला गये—दल बनाकर पतंगो की भांति सबने अस्त्र-शस्त्र लेकर भगवान् पर आक्रमण कर दिया। भगवान् ने तब क्रोध में हिरण्यकशिपु के शरीर को जांघ से भूमि पर पटक दिया और गर्जन करते हुए केवल नाखुनों से ही एक के बाद एक सब को पटक दिया और गर्जन करते हुए नाखुनों से ही एक के बाद एक सब को मारने लगे। वीर-रस की उन्मत्तता में वे मस्तक की जटा, केशराशि आदि को इस तरह से हिलाने लगे कि आकाश के मेघ उन जटाओं के आघात से इधर उधर तितर-बितर होने लगे—उनके श्वास के प्रचण्ड वेग से समुद्र में लहरें उठने लगी—उनकी दृष्टि से समस्त ग्रह भय से निस्तेज हो गये—उनकें श्रीचरणों के भार से पृथ्वी काँपने लगी। सभी असुरों के निधन के बाद जब श्रीचरणों के भार से पृथ्वी काँपने लगी। सभी असुरों के निधन के बाद जब और कोई प्रतियोद्धा नहीं दिखा तब भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने प्रचण्ड मूर्ति धारण कर सभा के बीच में राजा की चाल से पग बढ़ाते हुए राज सिंहासन पर दखल कर लिया। तब आकाश से उनके ऊपर पुष्प-वृष्टि होने लगी, देवताओं की दुन्दुभि बज उठी, गन्धर्वों की संगीत लहरी से और अप्सराओं के नृत्य-ताल से आकाश-बातास मुखरित हो उठा।

प्रह्लाद के द्वारा भगवान् नृसिंहदेव की स्तव-स्तुति

ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि-देवगण, ऋषिगण, पितृगण, सिद्ध-विद्याधर-नागगण, मनु-प्रजापति, अप्सरा-गन्धर्वों के दल, चारण-यक्ष-किन्नर-वेताल-किम्पुरुष, सुनन्द, कुमुद इत्यादि विष्णुपार्षदगण—सभी परमानन्द

से वहाँ उपस्थित हुए। सब भगवान् के सामने नज़दीक खड़े होकर हाथ जोड़कर, एक-एक करके कई प्रकार की स्तव-स्तुतियाँ करने लगे। फिर भी भगवान् का वह उग्र रूप किसी प्रकार से शांत नहीं हुआ। और उनके निकट जाकर उन्हें शांत कराने का भी किसी का साहस नहीं हुआ—ऐसा था वह रुद्र रूप! देवतागण तब लक्ष्मीदेवी के शरणागत हुए—"माता, आप ही पास जाकर भगवान् को शांत कीजिये।" किन्तु लक्ष्मी देवी का मनोभाव कुछ और था—प्रह्लाद के प्रति श्रीहरि का जो वात्सल्य है, किस प्रकार की कृपा है, उसे सब को बताना है, श्रीहरि का जो वात्सल्य है, किस प्रकार की कृपा है, उसे सब को बताना है, और भगवान् के उस 'अद्भुत-रस' का आस्वादन करने का भी यही समय है। इसीलिए उन्होंने भयभीत होने का अभिनय करते हुए कहा,—'प्रभु का इतना भयावह रूप, मैंने न कभी देखा है और न कभी सुना है! उनके निकट जाने से मेरा हृदय भी काँप रहा है।'

तब ब्रह्माजी ने पास ही खड़े प्रह्लाद से जाकर कहा,—"वत्स प्रह्लाद! तुम्हारे लिए ही भगवान् का यहाँ आविर्भाव हुआ हैं। अतः तुम्हीं जाकर प्रभु को शांत करो।' प्रह्लाद मानो इसी आदेश की प्रतीक्षा में थे। वे आनन्द सहित "जो आज्ञा" कहकर आगे बढ़े। वास्तव में भगवान्, प्रह्लाद को ही एकमात्र पास में आकर्षण करना चाहते थे, इसीलिए एकमात्र प्रह्लाद के अलावा सबके हृदय में ही बहुत भय उत्पन्न हो गया था। प्रह्लाद ने साह्लाद भगवान के चरणों में लेटकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया।

प्रह्लाद को भूमि पर प्रणत हुआ देखकर ही भगवान् का वह उग्र रूप कहाँ गायब हो गया—करुणामय के हृदय में करुणा का सागर उमड़ पड़ा। वात्सल्य से गद्गद होकर उन्होंने बहुत आदरपूर्वक भूमि से उसे उठाकर नज़दीक खींच लिया, कहने लगे,—बेटा मैं तो तुम्हारे लिए ही आया हूँ, मेरे कारण ही तुम्हें न जाने कितने कष्ट झेलने पड़े है। देर हो गयी, इसलिए मन में कुछ खेद मत करना।"—कहकर अपने हस्तकमल से उसके मस्तक को सराहने लगे। फिर जिस प्रकार सिंह वात्सल्य से अपने बच्चे का अंग चाटता हैं, उसी प्रकार लेहन के समान ही श्रीनरसिंहदेव के आँख-मुख से अपार स्नेह बहने लगा। भगवान् के अंग-स्पर्श से प्रह्लाद का सारा अंग रोमांचित हो उठा। प्रेम-भक्ति में अभिषिक्त होकर वे अश्रु-कम्प-पुलक से जरजर होने लगे। इतने निकट से अपने इतने आकांक्षणीय हृदय-

देवता को पाकर प्रह्लाद आनन्द-सागर में डूबने लगे। उनका समस्त हृदय और सम्पूर्ण दृष्टि एकमात्र भगवान् के श्रीमुख पर ही स्थिर रही और जिह्वा एक दिव्य उत्साह से वांगमय (शब्दपूर्ण) हो उठी—

"हे देव! आपके प्रति जो अनन्य-मनस्क सत्त्व-गुणी ब्रह्मा आदि देवतागण, ऋषिगण या सिद्धगण हैं, वे भी जिनको इतने सुमधुर वाक्य-पुष्पांजलि के द्वारा संतुष्ट नहीं कर सके हैं, वहाँ आप क्या मेरे जैसे अत्यन्त तामसिक, घोर असुरवंश में उत्पन्न व्यक्ति के वाक्यों से तुष्ट होंगे? फिर भी यही भरोसा है कि आप गजेन्द्र के प्रति केवल भक्ति के द्वारा ही संतुष्ट हुए थे। उनकी तपस्या, विद्वत्ता, पौरुष, प्रताप, इन्द्रियपटुता, तेज, शारीरिक बल, बुद्धि या यम-नियम आदि योग—इनमें से किसी के द्वारा भी आपको संतुष्ट नहीं किया जा सकता हैं। इन बारह गुणों से गुणी होकर भी यदि कोई ब्राह्मण आपके प्रति विमुख होता है, तो फिर उस ब्राह्मणत्व से भी उसे क्या लाभ हुआ हैं? वह कुल की क्या बात, स्वयं को ही पवित्र नहीं कर सकता है। उनकी अपेक्षा चाण्डाल कुल में आविर्भूत एक जगत्पावन भक्त बल्कि सब प्रकार से श्रेष्ठ है। यदि कोई कहे कि उस प्रकार सम्मानपूर्वक भक्ति करने से सभी संतुष्ट होते हैं, तो इसमें मेरा और क्या वैशिष्ट्य है? तो फिर कहता हूँ कि आप तो स्वयं परिपूर्ण हैं—आपको किसी से कुछ भी प्राप्ति की अपेक्षा नहीं है। फिर भी आप मेरे जैसे मूर्ख, दीन व्यक्ति तक की भी पूजा ग्रहण करते हैं, केवल हमें धन्य करने के लिए—इसी प्रकार की करुणा ही आपका स्वभाव है (जैसे, दरिद्र सुदामा जिस चिड़वों का उपहार लेकर द्वारका में श्रीहरि के पास गये थे, उन्हीं अतुल ऐश्वर्याधिपति श्रीहरि ने बलपूर्वक उस उपहार को ग्रहण किया था—इसमें कौनसे लाभ की अपेक्षा थी? वास्तव में वे स्वभाव से ही करुणामय हैं—यही प्रमाणित होता है)। आपके द्वारा पूजा ग्रहण करने पर ही जीव कृतार्थ होते हैं—इसीलिए आप पूजा ग्रहण करते हैं। लोग साज-सज्जा करके आइने के सामने जब खड़े होते हैं, उसमें उनका प्रतिबिम्ब सुन्दर दीखने पर भी वास्तव में वे ही उस सौन्दर्य के अधिकारी होते हैं। ठीक उसी प्रकार।

अतः मुझे इसी से बहुत बल मिल रहा हैं। भले ही मैं बहुत नीच हूँ, फिर भी उसमें भय या संकोच की कोई बात नहीं है। मेरी जितनी बुद्धि सामर्थ्य है, उसके द्वारा समस्त प्रयत्नों सहित आपकी महिमा का कीर्त्तन करूँगा। फिर आपके महिमा-कीर्त्तन की भी क्या

महिमा है! इसे भी कोई यदि श्रवण करता हैं, या बाद में कोई पाठ करता हैं, तो उससे ही संसारी जीव पवित्र हो जाते हैं।

हे नाथ, आप विश्व का मंगल करने के लिए ही जगत में अवतीर्ण होकर विभिन्न लीलाओं का विस्तार करते हैं—किसी में भय उत्पन्न के लिए नहीं। बल्कि हे नृसिंह, लोग भय से मुक्ति पाने के लिए ही आपके इस भीषण नरसिंह रूप का स्मरण करेंगे। हे अजित, आपका यह भयावह-चेहरा, गले मे अंतड़ियों की माला, खून से तरबतर केश और नाखून—ये सब देखकर मुझे डर नहीं लग रहा हैं। (यह तो आपके भक्त-वात्सल्य के कारण अत्यंत स्नेह का ही उदाहरण स्थापित कर रहा हैं।) बल्कि अपने कर्मदोष से संसार में आकर जिस कठिन दुःख का चक्र देख रहा हूँ, उसी से भयभीत हो रहा हूँ। आप कब प्रसन्न होकर इस संसार-भय अपने चरणकमल में मुझे बुलायेंगे?

हे भूमन्, उस संसार में जीवों को कितना दुःख है! जो कुछ प्रिय है, उससे वियोग, और जो कुछ अप्रिय है, उसी के साथ संयोग —इस प्रकार शोक की आग में सब जन्म-जन्म से जल रहे हैं। फिर इसके प्रतिकार के रूप में जो कुछ किया जाता है, उसमें फिर कोई अन्य दुःख आकर उपस्थित हो जाता है। वास्तव में संसार में किसी भी तरह से समझना नहीं चाहते हैं कि असल में आपके द्वारा उपेक्षित होने पर माता-पिता भी बालक के रक्षक नहीं हो सकते हैं, औषध भी रोगी की रक्षा नहीं कर सकती हैं, या समुद्र में नौका रहने पर भी डूबने वाले लोगों की रक्षा नहीं होते हैं, अथवा जो भी प्रतिकार क्यों न किया जाय, वह केवल क्षणिक ही होता है। वास्तविक रक्षाकर्त्ता तो आप ही हैं। पिता-माता के रूप में या ब्रह्मा आदि देवता के रूप में या उनके द्वारा वास्तव में तो आप ही रक्षा कार्य करते हैं, आप ही 'कर्त्ता' हैं, आप ही 'कर्म' हैं, आप ही 'करण' 'सम्प्रदान'. 'अपादान' 'अधिकरण'—इत्यादि सर्व'कारक' आप ही हैं। अतः यहाँ अन्य किसी की कोई बहादुरी तो दीखती नहीं है।

आपकी जो बहिरंगा शक्ति 'माया' है, उसके द्वारा जीव के अनन्त-वासनामय दुर्जय 'लिंग' शरीर की सृष्टि हुई हैं। वहाँ आपका भजन किये बिना कौन उस माया-निर्मित संसार चक्र को अतिक्रम कर सकता हैं? हे विभो! मैं उस संसार चक्र में फँसकर प्रतिक्षण निष्पेषित हो (अर्थात् पिस) रहा हूँ। आप मुझ शरणागत को अपनी ओर आकर्षित कर लें।

हे नाथ, लोग जिस स्वर्ग के लोकपाल की आयु, सम्पत्ति या ऐश्वर्य की कामना करते हैं, उसकी भी क्या ऐसी महिमा हैं—क्योंकि मैंने देखा है कि मेरे पिता के क्रुद्ध हो जाने पर उनकी भ्रुकुटि से ही सब तहस-नहस हो जाता था। और वह पिता भी जब आपके हाथों मारे गये हैं, तब इन सब भोगों का क्या परिणाम हैं, उसे सहज ही समझा जा सकता है। अतएव ब्रह्मा आदि के भी भोगोपकरण, आयु या सुख, सम्पत्ति, 'अनिम' आदि सिद्धियाँ लाभ करने की इच्छा नहीं रखता हूँ। आप केवल अपने सेवक के निकट मुझे स्थान प्रदान करें।

हे परमेश्वर! कहाँ तमोगुण से पूर्ण असुरकुल में उत्पन्न मैं अधम! और कहाँ आपकी दया! फिर भी ब्रह्मा, शिव या फिर लक्ष्मीदेवी के मस्तक पर अर्पण किया है! यह इसीलिए संभव हुआ हैं, क्योंकि आपसे अन्य सब की तरह उत्तम-अधम का कोई भेद विचार नहीं है। आप प्राणी मात्र के ही आत्मा तथा बन्धु हैं। फिर भी सबके प्रति आपकी इस तरह की कृपा देखी नहीं जाती है, उसका कारण हैं कि, आप—कल्पतरु के समान हैं। जिसकी जिस प्रकार की वांछा (इच्छा), कल्पतरु वही प्रदान करता हैं—इसमें जैसे कल्पतरु का किसी के प्रति कोई भेदभाव नहीं रहता हैं, उसी तरह। आपके प्रति जिसका जैसा भाव या सेवा-वृत्ति, उसी अनुरूप ही उसकी फल-प्राप्ति—इसमें किसी के प्रति आपका कोई ऊँच-नीच का भेद-विचार नहीं हैं।

हे भगवन्! भोग की ताड़ना से विषयासक्ति के कारण जब मैं नहीं, जैसे किसी विषधर साँप के गर्त में गिर गया था, तब देवर्षि नारद ने आकर मुझे आत्मसात् कर आपका मंत्रराज प्रदान कर कृपा की थी। वही भृत्यानुभृत्य (दासानुदास) हूँ मैं—किस तरह से आपके भृत्य (सेवक) की सेवा का परित्याग कर सकता हूँ? इसीलिए मैं आपके मृत्यु के निकट स्थान की प्रार्थना करता हूँ। हे अनन्त! मैं समझता हूँ कि आप अपने भृत्य श्रीनारद ऋषि की बात को रखने के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। मातृगर्भ में रहते समय, माता ने मेरे लिए ऋषि से मंगल प्रार्थना की थी। तब ऋषि ने कहा था,—"तुम्हारे पुत्र के विनाशक का विनाश हो, उसी वाक्य की रक्षा के लिए ही आपने मेरे प्राणों की रक्षा तथा पिता का वध किया है।

हे परमेश्वर! यह चराचर जगत कहने पर एक आप ही को समझा जाता है। आप अपनी माया के द्वारा इस त्रिगुणमय जगत की

सृष्टि करते हैं तथा अन्तर्यामी के रूप में फिर सबके अन्दर प्रवेश कर कई प्रकार से प्रकाशित होते है। फिर भी आप इन सबसे अलग हैं। अर्थात जगत आपसे अलग नहीं हैं, किन्तु आप जगत से अलग हैं। क्योंकि आप स्वरूप से ही गुणातीत हैं—इसीलिए गुणों में अवस्थान करके भी गुणातीत रहना ही आपका धर्म हैं। किन्तु जगत गुणमय हैं, इसीलिए यहाँ 'मेरे तुम्हारे' की भेद-बुद्धि रहती हैं—यही हैं अविद्या।

हे भवपार के खिवैया, इस संसार-रूपी वैतरणी में सभी अपने-अपने कर्म के अनुसार गोते लगा रहे हैं। वे मुर्खतावश संसार में किस प्रकार व्यर्थ शत्रुता तथा प्रीति के जाल में फँसते जा रहे हैं तथा सर्वदा ही कष्ट में दिन बिता रहे हैं। अतः आप कृपा कर इन सभी मूर्खों का उद्धार करें! हे जगद्गुरु, जिनकी इच्छा मात्र से ही इस जगत की सृष्टि, स्थिति और संहार हुआ करता है, उन आपके लिए इन सब लोगों का उद्धार करना कौनसा परिश्रम हैं? फिर भी आप तो दीनबंधु और महान हैं, अतः मूढ़ के प्रति आपकी दया ही तो स्वाभाविक हैं। यदि आप कहते हैं कि 'मैं तो तुम्हारे लिए ही आया हूँ' तो मैं कहता हूँ मैं तो आपके प्रियजनों का सेवक हूँ, अतः मेरा उद्धार करने में आपकी क्या महिमा है?

हे श्रेष्ठ! आपकी गुण-कथा के अमृत-सागर में मेरा चित्त सर्वदा ही मग्न है, इसीलिए दुस्तर 'वैतरणी' से मुझे कोई भय नहीं हैं। किन्तु आपसे विमुख ये सब इन्द्रियसुख-कातर, कुटुम्ब-पागल मूर्खों के लिए मुझे बहुत दुःख होता है। हे देव, प्राय ही देखा जाता है कि मुनिगण अपनी मुक्ति की कामना से मौनव्रत धारण करते हैं, उन्हे दूसरों का उद्धार करनें में कोई रुचि नहीं हैं। किन्तु मैं इन मूढ़ दैत्य-बालकों को छोड़कर अकेले मुक्ति लाभ की इच्छा नही करता हूँ। हे देव, संसार में आवागमन से रक्षा पाने के लिए, जीवों का एक आपके अलावा है कौन?

यदि कहते हैं कि,—मौन, व्रत, शास्त्रज्ञान, तपस्या, वेद-पाठ, स्वधर्म व्याख्या, निर्जनवास, जप और समाधि—मुक्ति लाभ के लिए ये दस पथ तो प्रसिद्ध है ही, तो मेरी अपेक्षा क्यों? उसका उत्तर यह हैं कि, ये सब अजितेन्द्रिय-व्यक्तियों के ही जीवन धारण के उपाय हुआ करते है और इनसे वे केवल दंभ में पूर्ण होते रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें कभी सुविधा होती हैं और कभी नहीं होती हैं। किन्तु इन सबसे वास्तव में आपको प्राप्त नहीं किया जा सकता हैं।

केवलमात्र शुद्ध भक्तियोग ही आपको लाभ करने का उपाय हैं। उदाहरण स्वरूप कहता हूँ,—लकडी में आग रहने पर भी जिस प्रकार उसे देखा नहीं जा सकता हैं, उसी तरह से समस्त वस्तुओं के अन्तर्यामी होने पर भी आप को अनुभव नहीं किया जा सकता है। फिर केवल घर्षण के द्वारा ही जिस प्रकार उस लकड़ी से आग निकलती हैं, उसी प्रकार से भक्तियोग के द्वारा ही सभीं मे आपके दर्शन होते हैं—और अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसके बाद, ब्रह्मा-शिवादि देवतागण या मर्त्य-लोक के प्राणीगण-सबका आदि और अन्त है, अतः इनमें से कोई भी आप 'आदि-अंत-रहित' को जान नहीं सकता हैं। तो फिर इस जड तथा सीमा युक्त मन, बुद्धि आदि के द्वारा और शास्त्र-अध्ययन-अध्यापन आदि करके आपको किस तरह से जाना जा सकता है? इसीलिए सुधीगण इस तरह का विचार कर केवल शास्त्र अध्ययन से विरत होकर आपके प्रति केवल शुद्ध-भक्ति प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करते हैं। हे पूज्यतम! आपको नमस्कार हैं, आपकी गुणगाथा का कीर्तन, आप में समस्त कर्म समर्पण, आपकी पूजा, आपके चरणों का स्मरण, आपकी कथा का श्रवण—इन छः साधनों के अलावा परमहंसों के प्राप्य उन आपके प्रति और किस उपाय से भक्ति लाभ हो सकती हैं?

वर प्रार्थना का आदेश कर, भगवान् के द्वारा प्रह्लाद की परीक्षा

इतना कहकर प्रह्लाद चुप हो गये। श्रीभगवान् उनके स्तव से अत्यंत संतुष्ट होकर वर-हस्त (हाथ) ऊँचा करके कहने लगे,—"प्रह्लाद तुम्हारा मंगल हो। मैं तुम्हारे प्रति अति प्रसन्न हुआ हूँ। तुम्हारे स्तव के कारण ही प्रसन्नता, ऐसा नहीं है। मैं तुमसे पहले ही से प्रसन्न हूँ। मुझे प्रसन्न किये बिना मेरे दर्शन पाना ही दुर्लभ है। मेरे यह दर्शन लाभ होने पर किसी की भी कोई कामना अधूरी नहीं रहती और कोई दुःख भी नहीं रहता हैं। अब तुम अपनी इच्छा से वर मांग लो।" प्रह्लाद ने इसके उत्तर में जन्म-जन्म उनके प्रति एकमात्र परम श्रद्धा भक्ति की ही प्रार्थना की। सुनकर भगवान् ने उनसे कहा, —"मुझमें तुम्हारी विशुद्ध भक्ति ही हैं और भविष्य में और भी होगी। फिर भी मुझसे जो इच्छा हैं, वही वर मांग लो" (विष्णुपुराण)। उन्होंने यह भी कहा कि (हरिभक्तिसुधोदय से)—"हे वत्स, मेरे प्रति

अपने इस प्रकार के सम्भ्रम (भय मिश्रित श्रद्धा) भाव का परित्याग करो। भक्तों में इस प्रकार का भाव देखने पर मुझे प्रसन्नता नहीं होती हैं। तुम खुलकर अपना प्रणय (प्रेम) व्यक्त करों, देखूँ। मैं सदा मुक्त होकर भी भक्तों के स्नेह की डोर से बंधा रहता हूँ। स्वजनों में स्नेह, धन मे आसक्ति आदि को छोड़कर जो व्यक्ति मेरी भक्ति करता है, मैं उसका और वह मेरा होता हैं—मेरा और कोई मित्र नहीं हैं। मैं नित्य ही पूर्णकाम हूँ, फिर भी मेरी जो जन्म आदि विविध लीलाएँ है, वे केवल भक्तों को सुख प्रदान करने के लिए हैं। अतः तुम्हें क्या प्रिय हैं, वहीं कहो?"

प्रिय? भगवान् को छोड़ प्रिय और क्या हो सकता है? वे तो आत्मा के भी आत्मा हैं—उनकी तरह प्रियतम और कुछ हो ही नहीं सकता है। योगी-मुनिगण ध्यान योग में जिनका एक झलक दर्शन पाकर धन्य होते हैं, या मात्र ज्योति रूप में दर्शन पाकर आनन्द में मग्न होते हैं, वे ही साक्षात् रूप में दर्शन दे रहे हैं, मस्तक पर हस्त स्पर्श कर रहे हैं—इसकी अपेक्षा पुनः और प्रिय क्या हो सकता हैं? भगवान् उल्लसित होकर कहने लगे,—"ठीक ही कह रहे हो, मेरे दर्शनों के अलावा तुम्हारा और कुछ प्रिय नहीं हैं। उसी से तुम धन्य हुए हो। इसीलिए मैं तुम्हारे प्रति अत्यंत संतुष्ट हो गया हूँ। और मेरे प्रति तुम्हारी यह प्रीति दिनोंदिन बढती रहेगी। फिर भी तुम्हारे प्रति मेरा कुछ कर्तव्य तो हैं। मेरी प्रीति के लिए अंततः वर प्रार्थना करो।"

इस तरह भगवान् प्रह्लाद को भक्ति के अलावा अन्य सब अत्यंत दुर्लभ विभूतियाँ या सिद्धियाँ अथवा मुक्ति, जो ब्रह्मा-शिवादि के लिए प्राप्त करना कदापि संभव नहीं है—इस प्रकार के वर मांगने के लिए बारम्बार प्रलोभित करने लगे। और कौन कर रहे है? स्वयं परतत्त्व भगवान्—जो सर्वसमर्थ, सर्वाराध्य एवं परम गौरव की वस्तु हैं। इस तरह से बार-बार कुछ ग्रहण करने के लिए ज़ोर लगाने पर उसे ग्रहण नहीं करना वास्तव में बहुत ही कठिन हो जाता है। उस सम्बन्ध में अनिच्छा रहनें पर भी एक प्रकार बाध्य होकर ही उसे ग्रहण करना पड़ता है। भक्तों की किस तरह की परीक्षा! असल में अन्तर्यामी भगवान् प्रह्लाद कें परम निर्मल अंतःकरण और उनकी चाहत—सब को ही भलीभांति जानते हैं। वे जानते हैं कि—प्रह्लाद कभी कभी परीक्षा में विफल नहीं होंगे। वे केवल जगत में 'शुद्धभक्त

का स्वरूप किस प्रकार का होता है' उसी को ही दृष्टांत के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। इसीलिए प्रह्लाद को इतना लालच दिया गया।

प्रह्लाद का परीक्षा में उत्तीर्ण होना एवं शुद्ध-भक्ति का स्वरूप प्रकाश

प्रह्लाद ने इसके उत्तर में कहा—हे भगवन्, स्वभाव से ही मैं अत्यंत कामासक्त हूँ। काम का भयंकर परिणाम देखकर सुनकर उससे मेरा अत्यन्त भय उत्पन्न हो रहा हैं। इसीलिए निर्विण्ण (निर्लिप्त) होकर आपके चरणों का आश्रय लिया हैं। अब दुबारा मुझे उस काम में प्रलोभित मत कीजिये। संसार का बीज-स्वरूप तथा बंधन-स्वरूप ही है यह 'काम', उसको उकसाना निश्चय ही आपका उद्देश्य नहीं है—आप वास्तव में मेरी परीक्षा ही ले रहे हैं कि, मैं आपका सेवक होने योग्य हूँ या नहीं। भृत्य किसे कहते हैं? जो प्रभु की सेवा के बदले में सेवा नहीं माँगकर अपने सुख के लिए अन्य विषय माँग लेता है, उसे भृत्य नहीं कहकर बल्कि 'वणिक' (व्यापारी) कहना उचित है। यह बिल्कुल भी भृत्य (सेवक) का लक्षण नहीं है। और फिर प्रभु किसे कहते हैं? जो अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए अर्थात् अपने अधीन बनाये रखने के लिए किसी को ऐश्वर्य आदि विषय प्रदान करते हैं, वे भी वास्तव में 'प्रभु' नहीं हैं। इस प्रकार प्रभु-भृत्य सम्बन्ध, इस प्रकार की व्यापारी-वृत्ति केवलमात्र इसी जगत में ही शोभा पाती है—आत्मधर्म के राज्य में नहीं। उस राज्य में आप जो प्रभु हैं, उनकी जिस प्रकार से मानसिकता नहीं हैं, और मैं भी उसी प्रकार से आपका व्यापारी-सेवक नहीं हूँ। अतः हमारे बीच इस तरह के लेने-देन के विचार की आवश्यकता नहीं है।

"यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्संरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥"

—(भाः ७/१०/७)

'हे वरदराज! आपका यह नाम सार्थक हो। यदि आप मेरा अभीष्ट ही दान करना चाहते हैं तो यह वर प्रार्थना करता हूँ कि, मेरे हृदय में कभी भी किसी प्रकार की कोई कामना-वासना न जागे। क्योंकि इस काम-वासना न जागे। क्योंकि इस काम-वासना में जीव का धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, सम्पद, तेज, स्मृति, सत्य—सब नाश हो जाता हैं। और जब जीव हृदय की कामना-वासना का परित्याग

करता हैं, तब ही आपके समान ऐश्वर्य लाभ करने में समर्थ होता है।' यह कहकर उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया,—

"ॐ नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने।
हरयेद्भुत-सिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने॥"

षड़ैश्वर्य-सम्पन्न भगवान्, परमपुरुष, विभु आत्मा, अद्भुत सिंहमूर्त्ति, परब्रह्म, परमात्मा, श्रीहरि—आपको नमस्कार है।

यही हैं भक्तप्रवर प्रह्लाद—कितना पवित्र हृदय! उनकी सुदीनता, परम-सहिष्णुता, अमानीत्व, मानवत्व और सर्वोपरि उनकी शुद्ध-भक्ति के प्रति अतुल निष्ठा—सभी 'साधन-भक्ति' का अभ्यास करने वाले साधकों के लिए परम उज्ज्वल उदाहरण स्वरूप है। उनके पिता ने उनपर असीम अत्याचार किये किन्तु फिर भी उन्होंने कभी हरिभजन परित्याग नहीं किया, या पिता के साथ कभी किसी तरह का समझौता नहीं किया, बल्कि प्रतिक्षण वे निर्भीक होकर किन्तु दीनता के साथ और यथायथ सम्मान देते हुए ही परम सत्य कथा, भगवान् की कथा का कीर्तन करते रहे हैं—यह भी किस प्रकार की सहनशीलता है, सोचा नहीं जा सकता है। और एक ही साथ **"अन्याभिलाषितां-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्"** (श्रीकृष्ण को सुखी करने की स्पृहा के अतिरिक्त समस्त प्रकार की अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान-कर्म आदि के द्वारा अनावृत्त) साधन-भक्ति के इस तटस्थ-लक्षण की वे पराकाष्ठा हैं। अर्थात्, किस प्रकार समस्त प्रकार के भोगों की कामना तथा मुक्ति की कामना को त्यागकर तथा भक्ति के नाम पर व्यापारिक-वृत्ति-रूपी कपटता का परित्याग होना और 'भक्ति' कोई सुविधा-लाभ का या दुःख-निवृत्ति का 'साधन' विशेष नहीं है, यह स्वयं सर्वश्रेष्ठ साध्य-स्वरूप हैं, जिसे अतिक्रम करके अन्य कोई के समक्ष प्रस्तुत किया हैं। 'नित्य कृष्णदास' के रूप में जीव को जो शुद्ध हरिभक्ति ही केवल 'नित्यधर्म' है, वह बद्ध-दशा में कई प्रकार के भोगों की कामनाओं से केवल आच्छादित हो गयी है। किन्तु वह सब कामना-रूपी आवरण हट जाने पर ही उस 'हरिभक्ति'-रूपी महा-महा-ऐश्वर्य का परम साध्य का संधान पाकर जीव धन्य हो जाते है —उसे ही प्रह्लाद महाराज ने मुक्त कण्ठ से घोषित किया।

ब्रह्मा-शिव आदि परम वैष्णव-महाजनगण साक्षात् रूप से भगवान् तथा भक्त में इस प्रकार से प्रेममय कथोपकथन को सुनकर स्तम्भित हो गये। अहो, शुद्ध-भक्त और शुद्ध-भक्ति की कैसी महिमा!'—सोचकर वे रोमांचित हो उठे। स्वयं शिवजी महाराज ने

श्रीनारदजी के पास उसका कीर्तन करते हुए इस प्रकार पंचमुखों से वर्णन किया था—"हे नारद! मुझसे तुम्हारे पिता ब्रह्मा, गरुड़ आदि पार्षदगण, यहाँ तक कि महालक्ष्मी से भी अधिक श्रीकृष्ण के कृपामात्र के रूप में इस जगत में प्रह्लाद ही प्रसिद्ध है" (श्रीबृहद् भागवतामृत १/३/७५) केवल इतना ही नहीं प्रह्लाद को उद्देश्य कर उन्होंने प्रणाम किया,—

"पुनः पुनर्वरान्-दित्सुः विष्णुर्मुक्तिं न याचितः।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम्॥"

'भगवान् श्रीविष्णु के द्वारा बारम्बार बहुत प्रकार के वर देना चाहने पर भी जिन्होंने मुक्ति की प्रार्थना नहीं कर केवल भक्ति को ही वरण किया था, मैं उन प्रह्लाद को नमस्कार करता हूँ।' ब्रह्मा-शिवादि के भी नमस्य रूप में मान्य होकर श्रीप्रह्लाद उनके पास ही स्थापित होकर 'द्वादश महाजन' में से के जन के रूप में जगत में विख्यात हुए।

इधर समस्त प्रकार के प्रलोभन के उत्तर में प्रह्लाद की उस प्रकार की बात को सुनकर भगवान् श्रीनृसिंहदेव का हृदय आनन्द से विभोर हो गया,—'यही तो है मेरा भक्त! देखो जगद्वासियों, देखो! यूँ ही थोड़े न कहता हूँ कि,—**"दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः"**—मेरे भक्तों के ऊपर समस्त प्रकार के भोग या मोक्ष उड़ेल देने पर भी वे एक मेरी सेवा के अलावा अन्य कुछ भी नहीं ग्रहण करते हैं।' प्रह्लाद समस्त परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुआ, इसीलिए उन्होंने कहा,—"प्रह्लाद, तुम्हारे जैसे भक्त के मुख से यही उपयुक्त है। वास्तव में ही जो मेर शुद्ध-भक्त हैं, वे इस लोक के या परलोक के किसी तरह के सुख की ही कामना नहीं करते हैं। अब तुम मेरी बात मान जाओ। तुम इस मन्वन्तर में मात्र दैत्यों के अधीश्वर होकर जगत में अवस्थान करो तथा समस्त प्रकार के विषयों का उपभोग करो। तुम्हारे लिए मेरी प्रिय कथा ही तो एकमात्र 'विषय' है—तुम उसी का सेवन करो। और सब में ही अवस्थित एक यज्ञेश्वर—मेरी भक्तियोग के द्वारा पूजा करो, अश्वमेध आदि यज्ञ आदि कर्म तुम्हें नहीं करने पड़ेंगे। इस प्रकार सुख से अपनी अपनी कीर्ति का विस्तार करो। तुम्हारी कीर्ति देवताओं के लिए भी वंदनीय होगी। समय होने पर इस समस्त दायित्व-बंधन से मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे। जो सब लोग तुम्हारे साथ मुझे स्मरण करते हुए तुम्हारे

द्वारा कथित स्तोत्र तथा कथा की चर्चा करेंगे, वे भी यथासमय समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त होगें।"

प्रह्लाद की दैत्यराज-उद्धार प्रार्थना

भगवान् द्वारा प्रह्लाद के उद्देश कर समस्त जगद्वासियों को इसी प्रकार का 'वर' प्रदान करने पर प्रह्लाद आनन्द से विभोर हो गये। उन्होंने भगवान् से जो कहा था कि,—आप सर्वसमर्थ हैं, आपके लिए संसार के इन मूर्ख लोगों का उद्धार करने में क्या परिश्रम है'—उसी के उत्तर में भगवान् ने यह व्यवस्था दी। तब उन्हें अपने पिता की बात याद आयी,—'सब के लिए तो हो गया, किन्तु उनकी क्या गति होगी', यह जानने के लिए वे कहने लगे,—"हे महेश्वर, मैं आपसे एक और वर चाहता हूँ। वह यह हैं कि,—भले ही मेरे पिता आपकी दृष्टि मात्र से ही पवित्र हो गये हैं, फिर भी आप ही जो मूल ईश्वर हैं, उसे वे नहीं जान सके है। बल्कि आपको मात्र अपने भाई का हत्यारा समझकर उन्होंने केवल आपका विरोध ही किया है। और मुझे 'आपका भक्त' जानकर मेरे साथ भी कितना द्रोहाचरण किया है। भक्त के प्रति अपराध आप सहन नहीं करते हैं। मेरे पिता इन दोनों प्रकार के अपराधों से महा-अपराधी हुए हैं। हे कृपण-वत्सल, आप इन अक्षम्य अपराधों से उनका उद्धार करें—यही एकमात्र निवेदन है।"

अहो, वैष्णवगण किस प्रकार दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं! भगवान् की तरह ही उनकी भी कृपा की कोई सीमा नहीं है। क्षोभ का कारण रहने पर भी क्षुब्ध नहीं होना, क्षमा के अयोग्य होने पर भी क्षमा करना, और फिर उन्हीं के मंगल की प्रार्थना करना—यही उनकी वृक्ष के समान सहिष्णुता तथा महा-उदारता हैं। भगवान् के प्रति जिनका द्वेषभाव रहता है, उनके प्रति उपेक्षा की नीति का अवलम्बन करते हुए चलना चाहिए—यही हैं शास्त्रों का निर्देश। उपेक्षा का आशय है—निरपेक्ष होना। इसका ज्वलंत उदाहरण है—प्रह्लाद-महाराज द्वारा अपने पिता के प्रति निरपेक्षता (भक्ति-संदर्भ)। अहो, सत्य ही किस प्रकार की है वह निरपेक्षता! उनके पिता ने उनके प्रति बहुत अधिक द्वेषभाव दिखाया, फिर भी उन्होंने किसी तरह की प्रतियोगिता नहीं कर उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेषभाव नहीं रखा और स्वप्न में भी उनके विनाश की कामना नहीं की। फिर भगवान् के द्वारा पिता का निधन करते हुए देखने पर भी स्वजन-प्रीति के

वश से उनके वध में बाधा नहीं डाली, फिर पिता के मारे जाने पर देवताओं की तरह वे आनन्दित भी नहीं हुए और पितृ-वियोग के कारण दुःखी भी नहीं हुए। अंत में पिता के अक्षम्य अपराध से उद्धार के लिए भगवान् से वर माँगकर दिखाया है कि, वैष्णव के इस निरपेक्ष-भाव में भई किस प्रकार की करुणा भरी रही हैं, वह जड़ वस्तु की तरह कोई प्राणहीन निरपेक्षता नहीं है।

भगवान् ने मुस्कुराते हुए प्रह्लाद से कहा,—प्रह्लाद इसमें तुम्हारी प्रार्थना की क्या बात हैं? वह तो ऐसे ही हो गया है। तो सुनो,—पहली बात तो यह कि मेरे अंग के स्पर्श से ही तुम्हारे पिता पवित्र हो गये थे—यह तो मेरे प्रभाव से हुआ। अब तुम अपने प्रभाव की बात सुनो,—तुम्हारे जैसे शुद्ध-भक्त-साधु जिस कुल में ग्रहण करते हैं, उस वंश की पिछली इक्कीस पीढ़ियाँ पवित्र हो जाती हैं, अतः तुम्हारे पिता भी इससे अप्रभावित नहीं रहें हैं। प्रह्लाद, तुम्हारी बात क्या कहूँ, —**"भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूकधृक्"**—तुम मेरे समस्त भक्तों में उपमा-स्थल हो, जो लोग तुम्हारा अनुसरण करेंगे, वे भी मेरे भक्त के रूप में ग्रहणीय होंगे। अतः और चिन्ता मत करो, तुम अपने पिता के अंतिम कार्य को सम्पन्न करो। इसके बाद पिता के आसन बर बैठकर मेरे प्रति आविष्ट-चित्त से शास्त्रानुसार सभी कार्य करते रहो। क्यों ठीक है न? यह है भगवद्-भक्त का प्रभाव और भगवान् की करुणा। प्रह्लाद ने यह द्वितीय वर मांगकर दिखाया कि,—भगवान् सम्पूर्ण वात्सल्य की खान हैं, उनसे वास्तव में कुछ भी चाहने की अपेक्षा नहीं रहती है, वे पहले से ही सब प्रकार की आवश्यक व्यवस्था कर लेते हैं। इसीलिए ही कहा जता हैं, —**"भक्तवत्सल, कृतज्ञ, समर्थ वदान्य। हेन कृष्ण छाड़ि पंडित नाहि भजे अन्य॥"** (भक्त-वत्सल, कृतज्ञ, समर्थ दानी। इस प्रकार के कृष्ण को छोड़कर पण्डित व्यक्ति अन्य किसी का भजन नहीं करते हैं)।

भगवान् का अन्तर्द्धान और प्रह्लाद का राज्याभिषेक

इधर ब्रह्मा समस्त देवताओं से घिरकर भगवान् की बहुत स्तव-स्तुतियाँ करने लगे। इसके बाद भगवान् ने ब्रह्मा से कहा,—"हे पद्मज, असुरों का स्वभाव ही बहुत क्रूर होता है, उन्हें पुनः इस प्रकार का वर मत देना—वह साँप को अमृत दान ले समान ही हो गया है।" इसके पश्चात् वे ब्रह्मा जी से पूजा ग्रहण करने के बाद सबके सामने से अदृश्य हो गये। जय जय प्रह्लादेश भगवान्

श्रीनृसिंहदेव की जय! जय भक्त-वत्सल श्रीनृहरि की जय! जय सर्वविघ्न-विनाशन् श्रीनरहरि की जय!

भगवान् के अन्तर्द्धान हो जाने के बाद प्रह्लाद ने ब्रह्मा, शिव, प्रजापतिगण तथा समस्त देवताओं को प्रणाम किया। पिता का श्राद्धादि कार्य यथारीति संपन्न करने के बाद ब्रह्मादि देवताओं ने शुक्राचार्य आदि मुनिओं के साथ एकत्र होकर प्रह्लाद को दैत्य तथा दानवों के अधिपति के पद अभिषिक्त किया और सभी ने उन्हें परम-आनन्दपूर्वक आशीर्वाद दिया तथा अभिनन्दन किया। इसके बाद वे प्रह्लाद द्वारा यथायोग्य पूजित होकर अपने-अपने स्थानोंपर वापिस चले गये।

जिन्होंने अनायास ही भगवान् से अनन्त वैभव लाभ की संभावना को ठुकराया है, उन्होंने ही फिर हँसते हुए भगवान् से तुच्छ राज्य स्वीकार कर लिया। यह केवल मूढ़ जीवों को कृष्णोन्मुख कराकर भगवत्-प्रेम का आस्वादन कराने के लिए है। **"नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः"**—मैं इन सब अभागे लोगों को छोड़कर अकेले मुक्ति प्राप्त नहीं करना चाहता हूँ'—इस प्रकार की है उनकी परदुःख-कातरता, सोची जा सकती है।

प्रह्लाद के प्रति भगवत्-कृपा का अन्य दृष्टान्त

श्रीवामन-पुराण में प्रह्लाद महाराज के इस प्रकार साक्षात् रूप से भगवान् की कृपा लाभ करने की एक घटना वर्णित है। 'नैमिषारण्य में पीतवसन श्रीहरि साक्षात् विराजमान् है'—यह सुनकर श्रीप्रह्लाद एक दिन उनके दर्शन के लिए वहाँ जा रहे थे। रास्ते में एक अद्भुत तेजस्वी पुरुष—तपस्वी लेकिन हात में तीर-धनुष—उनका रास्ता रोककर खड़े हो गये। किसी भी उपाय से रास्ता नही छोड़ने पर अंत में उनके साथ महायुद्ध आरम्भ हुआ। पराजित नहीं करने पर श्रीहरि के दर्शन नहीं मिलेंगे,—फिर, तपस्वी को इतना दम्भ क्यों है, इन्हें भी उचित शिक्षा देनी होगी, इस प्रकार सोचकर श्रीप्रह्लाद ने प्रतिज्ञा की,—'मैं इसे अवश्य ही जय करूँगा।' किन्तु दुर्भाग्य से सारा दिन युद्ध करके भी वे उन्हें पराजित नहीं कर सके।

दूसरे दिन अति भोर में प्रह्लाद जी श्रीहरि की पूजा-अर्चन सम्पन्न कर पुनः युद्ध के लिए उस स्थान पर उपस्थित हुए। वह तपस्वी भी तीर-धनुष लेकर रास्ता रोककर पहले की तरह उपस्थित हैं। किन्तु पास आते ही वे चौंक गये—क्या आश्चर्य! भोर में पूजा-

अर्चन के समय उन्होंने जो माला अपने सेवित श्रीविग्रह के गले में पहनायी थी, वही माला उन तपस्वी के गले में! तब तो ये ही हैं वे पीतवसन श्रीहरि! प्रह्लाद ने तब हाथ जोड़कर उनकी बहुत स्तव-स्तुतियाँ की। और भगवान् ने भी हँसते हुए भक्त को अपना कोमल हस्त-स्पर्श प्रदान किया, जिससे उनके युद्ध की थकान तत्काल दूर हो गयी। किन्तु प्रह्लाद की तो जीत की प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई, इसका निवेदन करने पर भगवान् मुस्कुरा उठे,—'तुमने तो मुझे सदा के लिए ही जीत लिया है। इसीलिये तो पहले ही मैं तुम्हारे पास उपस्थित हो गया हूँ।'

प्रह्लाद-महाराज का संग लाभकर उनके पौत्र महाराज बलि भगवान् के आत्म-निवेदन के दृष्टांत स्वरूप बने तथा भगवान् श्रीवामनदेव की कृपा लाभ कर वे द्वादश महाजनों में एक जन के रूप में मान्य हुए।

प्रह्लाद की नित्य नृसिंह-पूजा

श्रीमद्भागवत (५/१८/७) में अन्यत्र देखा जाता है कि,—इस भूलोक के जम्बुद्वीप में 'हरि'-नामक जो एक 'वर्ष' है, वहाँ भगवान् श्रीनृसिंहदेव अवस्थान करते हैं। महाभागवत प्रह्लाद उस स्थान सबके साथ अनन्य भक्ति सहित तथा निरन्तर अपने सर्वप्रिय-रूप श्रीनृसिंह-मूर्ति की आराधना करते रहते हैं। अतः केवल हिरण्यकशिपु के वध के समय ही मात्र उन्होंने श्रीनृसिंहदेव के दर्शन लाभ किये थे, ऐसा नहीं हैं, वे नित्य ही श्रीनृसिंह-उपासक हैं। वे इस मंत्र से उनकी नित्य उपासना करते रहते हैं,—

पूजा-मंत्र—

ॐ नमो भगवते श्रीनरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रंधय रंधय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठाः ॐ क्ष्रौम इति।

(श्रीमद्भागवत ५.१८.८)

अर्थात् तेजः सबके तेजःस्वरूप भगवान् श्रीनृसिंहदेव नमस्कार है, हे वज्रनख, वज्रदंष्ट्र (वज्रदन्त), आप विशेष रूप से प्रकट होवें, हमारी कर्मवासनाओं को दहन कीजिये; दहन कीजिये; अज्ञानांधकार को दूर कीजिये; दूर कीजिये; हमारे मन में अभय-निर्भय उदित हो —'ॐ क्ष्रौम् इति स्वाहा' (यह श्रीनृसिंह-बीजमंत्र है)।

प्रार्थना मंत्र—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां, ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे, आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

—(श्रीमद्भाभागवत ५/१८/९)

'हे भगवन्, निखिल विश्व का मंगल हो, सभी दुष्ट व्यक्ति क्रुरता का त्याग करें, प्राणीगण बुद्धि द्वारा एक दूसरे की मंगल-चिंता करें, हमारा मन विषयों के प्रति अनासक्त होकर भजन करे और मति निष्काम होकर आप अधोक्षज में आविष्ट हो।'

जय जगद्गुरु श्रीप्रह्लाद-महाराज की जय!

श्रीनृसिंह-तत्त्व

भगवान् श्रीनृसिंहदेव श्रीकृष्ण के 'लीलावतार' के रूप में कथित हैं—**"केशव धृत नरहरि-रूप जय जगदीश हरे।"** श्रीनृसिंहदेव में परिपूर्ण ऐश्वर्य, यशः, वीर्य, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छह 'भग' अर्थात् ऐश्वर्य अवस्थित हैं, इसीलिए श्रीनृसिंहदेव को 'परावस्थ-तत्त्व' कहा जाता हैं, इसीलिए श्रीनृसिंहदेव को 'परावस्थ-तत्त्व' कहा जाता है।

"नृसिंह-राम-कृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपुरितम्।
परावस्थास्तु ते तस्य दीपादुत्पन्न-दीपवत्"

—(श्रीलघुभागवतामृत से उद्धृत पाद्मवाक्य)

अर्थात्,—श्रीनृसिंह, श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्णचन्द्र में परिपूर्ण मात्रा में षड़ैश्वर्य विद्यमान हैं। जिस तरह से एक प्रदीप से अन्य प्रदीप उत्पन्न होने पर मूल प्रदीप का धर्म अन्य प्रदीपों के समान रूप से ही व्यक्त होता है, उसी प्रकार, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण से प्रकाशित श्रीराम और श्रीनृसिंह में पूर्ण रूप से षड़ैश्वर्य विकसित होने पर इन तीन विग्रहों को 'परावस्थ' अर्थात् सम्पूर्णावस्थ कहा जाता है। इनका स्थान सर्वोपरि महावैकुण्ठ में है।

श्रील प्रभुपाद द्वारा कथित श्रीनृसिंह-तत्त्व

परमहंसकुलगुरु श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद जी ने अपनी विभिन्न हरिकथाओं में श्रीनृसिंहदेव के संबंध में जिन समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित किया है, उन्हें नीचे उल्लिखित किया जा रहा है—

नरसिंह-मूर्ति, विष्णु के सर्वोत्तमत्व तथा अचिन्त्य-शक्ति की द्योतक (प्रकाशक) हैं। प्राणी-जगत में नर की सर्वश्रेष्ठता और पशु-जगत में सिंह की सर्वश्रेष्ठता हैं। मनुष्य में पशुत्व तथा नरत्व दोनों

ही देखे जाते हैं। नरत्व में पशुत्व की प्रबलता ही असुरत्व हैं। नृसिंहदेव सर्वोत्तम पशु और नरोत्तम के रूप में प्रकटित होकर नरत्व में पशुत्व या असुरत्व का ध्वंस साधन करते हैं अर्थात् पुरुषोत्तम-सेवा के पथ के विघ्न या पाषण्डता का विनाश करते है।

और फिर 'नर' और 'सिंह'—दोनों ही प्राणी जगत में खाद्य-खादक के संबंध में अवस्थित हैं। जगत में नर और सिंह एक स्थान पर आमिंगित अवस्था में नहीं रह सकते हैं। किन्तु इस तरह पारस्पारिक अत्यन्त विरुद्ध वस्तु का एकत्र समावेश 'नरसिहं'-रूप में प्रकटित है। इसके द्वारा भगवान् विष्णु का अचिन्त्यत्व प्रकाशित हुआ है।

श्रीनृसिंहदेव में—'वत्सल'-रति में 'वात्सल्य'-रस है। दस अवतारों में से सात में गौण रस तथा तीन अवतारों में मुख्य रस हैं। नृसिंहदेव ने 'वत्सल', वामनदेव ने 'सख्य' तथा बुद्ध ने 'शांत' रस प्रकाशित किया है। बुद्ध का शांत रस—जड़ में भोगबुद्धि-रहित हो जाना है; यह मुख्य रस के अन्तर्गत होने पर भी इस रस की मूर्ति नहीं हैं। 'मत्स्यावतार'—चिन्मयी 'जुगुप्सा'-रति से उत्पन्न 'बीभत्स'-रस का आश्रय-स्वरूप हैं; एवं कूर्मदेव—'विस्मय'-रति से उत्पन्न 'अद्‌भुत'-रस का आश्रय हैं। श्रीबलदेव के—'हास'-रति में 'हास्य' रस और परशुराम के—'क्रोध'-रति में 'रौद्र'-रस हैं। 'शोक'-रति से जो 'करुण'-रस हैं, वह श्रीरामचन्द्र में अत्यंत प्रबल है। वराहदेव—'भय'-रति में 'भयानक'-रस की प्रकाश मूर्ति हैं तथा कल्कि का—'उत्साह'-रति में 'वीर'-रस है।

नृसिंहदेव विषय-जातीय वस्तु है; वे वत्सल-रस के आश्रय-विग्रह के 'विषय' न होकर बाह्य आपातदर्शन में 'आश्रय' प्रतिम (आश्रय सदृश) क्यों हुए? (कारण) नृसिंहदेव अवतार। केवल अवतारी कृष्ण में इस प्रकार विषय-आश्रय में सुष्ठु विचार की बाधा नहीं होती है। नरसिंह-भक्त, वामन-भक्त तथा शाक्यसिंह (बुद्ध) के भक्तों में आमतौर पर रस-वैषम्य देखा जाता हैं। भगवान् का सुख आश्रय-जातीय सेवक लाभ नहीं कर सकते हैं। आश्रय-जातीय सेवकों का जो भोग हैं, उसकी सुष्ठुता केवल भक्तिरस में है। अभक्ति के द्वारा भोग में आश्रयाभिमान का व्यवधान हो जाता है। किन्तु शुद्धभक्ति-विचारकारी होने पर प्रह्लाद का आश्रयाभिमान पूर्ण है। 'वत्सल'-रति में भगवान् नृसिंहदेव भक्त का अमंगल दूर करते हैं अर्थात् भक्ति पथ की बाधाएँ नष्ट कर देते हैं।

'हिरण्य' का अर्थ है—सुवर्ण (सोना); जो लोक हमेशा धन संग्रह करने में व्यस्त हैं—lucre hunter, वे 'हिरण्याक्ष' हैं। और 'हिरण्यकशिपु' ('हिरण्य'—कनक, 'कशिपु'—शय्या अर्थात् कामिनी) का अर्थ हैं—कनक-कामिनी दोनों के संग्रह में हीं व्यस्त। उनका वध करने के लिए नृसिंहदेव आविर्भूत हुए थे। जो लोग भगवद्-भजन में प्रयत्नशील हैं, उनके विघ्न-उत्पादनकारी समस्त शुभाशुभ कर्मफल का वे विनाश करते हैं—वे वत्सल-रस की प्रकाश-मूर्ति हैं। गणदेव (गणेश) सांसारिक असुविधाओं का विनाश कर जीव की भगवद्-विमुखता मात्र क्रमशः बढ़ा देते हैं। किन्तु श्रीनृसिंहदेव का वात्सल्य इस प्रकार नहीं है।

जिस प्रकार विष्णु की 'विकारी'-कल्पना में 'रुद्र'-रूप का प्रकाश हैं; उसी प्रकार नृसिंह की 'विकार'-कल्पना में सिद्धिदाता 'गणेश' का आविर्भाव है—जो सूंड के द्वारा बाहरी अभिज्ञान (अभिज्ञता) का संग्रह तथ उसके व्यापारी हैं, इसीलिए ये गणेश की पूजा करते हैं। ये निरन्तर बाह्य अभिज्ञान (अनुभव) संग्रह कर रहे हैं, फिर उसे भी छोड़ दे रहे हैं। गणेश की सूंड इसे ही व्यक्त कर रही हैं। इसीलिए जगत के लोगों की आदर्श पूजनीय वस्तू हैं गणेश, जो जगत की कामना को शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर सकते हैं। समस्त जगत नृसिंह-विकारी गणेश का उपासक तथा अर्थ का उपासक हैं। गणेश की उपासना में जड़-सविशेष विचार है, अंत में निर्विशेष-तत्त्व में प्रवेश हैं। किन्तु चित्सविशेष-तत्त्व के प्रकाश-विग्रह नृसिंहदेव अलग वस्तु हैं। गणाधिप (गणेश)—leader (नेता) हैं, जगत में जितने प्रकार की leadership (नेतृत्व) हैं, सबमें श्रेष्ठ है—गणाधिप, नृसिंहदेव हैं—गणाधिपाधिप। जगत में कामना-प्रिय लोगों की श्रेष्ठ उच्चाकांक्षा है —'नारायण या ब्रह्म हो जाना'.—गणेश इन सब तुच्छ वस्तुओं के प्यासे व्यक्तियों को सुविधा प्रदान कर देते हैं।

किन्तु चित्सविशेष-विचारकारी प्रह्लाद-महाशय में कभी भी उस प्रकार की कुवासना का उदय नही हुआ। यहाँ तक कि भगवान् के द्वारा बहुत वरदान करना चाहने पर भी उन्होंने प्रभु के श्रीचरणों में शुद्ध-दासत्व की ही केवल प्रार्थना की हैं। बल्कि भविष्य में ताकि किसी प्रकार हृदय में भोगवासना का उदय होकर भगवद्-दासत्व में बाधा न हो, उसके लिए भी वे श्रीनृसिंहदेव के चरणों में प्रार्थना व्यक्त कर निश्चिन्त हुए हैं। भगवान्—नित्य प्रभु हैं, जीव—उनके नित्य दास हैं; उन प्रभु के दासत्व के बिना अन्य किसी उपाय से

आत्मतोषण की कामना तो केवल व्यापारिक-वृत्ति हैं और वह तो पूर्ण विकसित-चेतन जीवों के लिए अत्यन्त अवाछित व्यापार-विशेष है, उसे भी शुद्ध-भक्ति-प्रचारक-प्रवर प्रह्लाद ने स्थापित किया है।

अतः जो लोग नृसिंहदेव के द्वारा भौतिक विघ्नों का विनाश करने की इच्छा करते हैं, उनकी नृसिंह-पूजा, पंचोपासना के देवता विघ्न-विनाशन-गणेश की पूजा के समान हो जाती हैं। श्रीनृसिंहदेव उस समय उन्हें अपनी माया ले द्वारा अभिभूत कर लेते हैं। किन्तु जो लोग हरि-गुरु-वैष्णवों की सेवा के विघ्न-विनाश के लिए 'नृसिंह'-नाम का उच्चारण करते हैं, भक्त-वत्सल श्रीनृसिंहदेव उनके वह विघ्न दुर कर शुद्ध-भक्ति प्रदान करते हैं।

श्रीनृसिंह-पूजा की प्राचीन-गाथा

शुद्ध-भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने बहुत प्राचीनकाल से ही जगत में श्रीनृसिंह-उपासना की शिक्षा दी हैं। चार वैष्णवाचार्यों में जो प्राचीनतम हैं, उन श्रीदेवतनु विष्णुस्वामी और उनके अनुगत जनगण-सभी श्रीनृसिंह-उपासक हैं। उक्त 'विष्णुस्वामी'-सम्प्रदाय के प्रमुख विशिष्ट आचार्य श्रील श्रीधरस्वामी—श्रीनृसिंह उपासक हैं। उन्होंने श्रीमद् भागवत की टीका 'भावार्थदीपिका' के मंगलाचरण में भागवत-धर्मप्रचार में विघ्नों का नाश तथा अभीष्ट पूर्ण करने के लिए सबसे पहले श्रीनृसिंहदेव की वंदना की है,—

"वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥"

अर्थात् "जिनके मुख में वाग्देवी श्रीसरस्वती, वक्ष में लक्ष्मीदेवी और हृदय में सम्वित् (ज्ञान) विराजमान हैं, उन श्रीनृसिंहदेव का मैं भजन करता हूँ।" इस श्लोक में उन्होंने श्रीनरसिंहदेव का सरस्वती या भक्तिसिद्धान्त-वाणी के पति-रूप मे भजन किया हैं। उनकी श्रीनृसिंह-देवा के फलस्वरूप ही आज जगत में श्रीभागवत के यथार्थ अर्थ का प्रचार और भक्ति की महिमा विघोषित हो रही है। श्रीनृसिंहदेव शुद्धा सरस्वती के सेवकों के विघ्न-नाश किया करते हैं। इसीलिए समस्त वैष्णव सम्प्रदाय में ही श्रीनृसिंह-पूजा का प्रचलन हैं।

श्रीब्रह्म-मध्व-गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीनृसिंह-पूजा का प्रचलन प्राचीनकाल से ही ऐतिह्य (परम्परा) के रूप में वर्तमान है। स्वयं ब्रह्मा से श्रीनृसिंह-भजन की कथा ब्रह्म-सम्प्रदाय में परम्परा के रूप में चली आ रही है, उसे प्रह्लाद द्वारा रचित श्रीनृसिंह-स्तव में देखा

जाता है—**"लीलाकथास्त्व नृसिंह विरिंच–गीताः"** (भाः ७/९/१८)। श्रीमन् मध्वाचार्य जी द्वारा प्रतिष्ठित आठ मठों में से एक 'कानुरु'–मठ में 'श्रीनृसिंहदेव' सेवित होते है। एक दिन श्रीमध्वाचार्य जी कपाट बंद करके भगवान् की पूजा में मग्न हो गये, तब उनके शिष्य पंडित त्रिविक्रमाचार्य ने कपाट के छेद में से उन्हें 'हनुमान', 'भीम' और मध्व—इन तीन रूपों में दर्शन किया था। उसी समय उन्होंने श्रीमध्व की वायु के अवतार–रूप में 'वायुस्तुति' रचना कर, पूजा के अंत मं श्रीमध्वाचर्य को दिखाया था। उसमें केवल अपनी स्तुति को देखकर श्रीमध्व ने उक्त स्तुति के पहले श्रीनरसिंहदेव के नख (नाखून) की वंदना स्वरूप दो श्लोकों की रचना कर उसमें संयोजित किया। वह "नरसिंह–नखस्तोत्र" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

॥श्रीनरसिंहनखस्तुतिः ॥

पान्त्वस्मान् पुरुहूतवैरिबलवन्मातङ्गमाद्यद्घटा–
कुम्भोच्चाद्रिविपाटनाऽधिकपटुप्रत्येकवज्रायिताः।
श्रीमत्कण्ठीरवास्यप्रततसुनखरा दारिताराऽतिदूर–
प्रध्वस्तध्वान्तशान्तप्रविततमनसा भाविता नाकिवृन्दैः ॥१ ॥

लक्ष्मीकान्त समन्ततोऽपि कलयन् नैवेशितुस्ते समं
पश्याम्युत्तमवस्तु दूरतरतोऽपास्तं रसो योऽष्टमः।
यद्रोषोत्करदक्षनेत्रकुटिलप्रान्तोत्थिऽग्नि स्फुरत्–
खद्योतोपमविस्फुलिङ्गभसिता ब्रह्मेशशक्रोत्कराः ॥२ ॥

॥इति श्रीनरसिंहनखस्तुतिः संपूर्णा॥

फिर सत्ययुग में महाराज इन्द्रद्युम्न ने श्रीपुरुषोत्तम–क्षेत्र में आकर 'श्रीनीलमाधव'–विग्रह के दर्शन नहीं पाकर, भगवान के आदेश से जब एक हजार अश्वमेध–यज्ञ करने का संकल्प लिया, तब देवर्षि श्रीनारद के उपदेश अनुसार निर्विघ्न रूप से यज्ञ पूर्ण करने के लिए सबसे पहले श्रीनृसिंह–विग्रह की प्रतिष्ठा करके ही यज्ञारम्भ हुआ था। वह श्रीविग्रह आज भी श्रीजगन्नाथ मंदिर में मुक्तिमण्डप की पश्चिम दिशा में पूर्वमुखी होकर विराजमान हैं।

आदि श्रीशंकराचार्य की जीवनी में देखा जाता है कि एकबार जब कुछ अघोरी उन्हें पकड़कर ले गये और उनकी बलि देने के

लिए तैयार हुए तब उन्होंने उसी क्षण श्रीनृसिंहदेव के उद्देश्य से स्तोत्र की रचना कर "लक्ष्मी-नृसिंह मम देहि करावालम्बम्"—इस प्रकार के कीर्तन के माध्यम से उनकी आराधना की, तत्क्षणात् भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने आकर उन अघोरियों का वध किया तथा उनकी रक्षा की थी। उक्त स्तोत्र **"संकट-नाशन-लक्ष्मीनृसिंह-स्तोत्रम्"** नाम से सभी सम्प्रदायों में विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

'छन्नावतार' भगवान् श्रीगौरसुन्दर जिस समय नवद्वीप में विद्यमान थे। वे तब पाषण्डियों द्वारा संकीर्तन का विरोध करने पर क्रुद्ध होकर भगवद्-आवेश में 'नृसिंह-मूर्ति' धारण कर लेते तथा भक्तों को अभय प्रदान करे, कभी फिर पाषण्डियों के निधन को ही तैयार हो जाते,—

"ज्वलन्त अनल देखे श्रीवास-पण्डित।
हइल समाधि-भंग देखे चारिभित॥
देखे वीरासने वसि' आछे विश्वम्भर।
चतुर्भुज—शंख-चक्र-गदा-पद्मधर॥
गर्जिते आछये येन मत्तसिंह-सार।
वाम-कक्षे तालि दिया करये हुँकार॥

—(चैः भाः मध्य २/२५९-२६१)

'साधु उद्धारिमु', दुष्ट विनाशिमु सब।
तोर किछु चिंता नाइ, पड़ मोर स्तव॥"

—(चैः भाः मध्य २/२६६)

"नृसिंह-आवेशे प्रभु हाते गदा लंइया।
पाषण्डी मारिते जाय नगरे धाइया॥"

—(चैः चः आदि १७/९२)

अर्थात् ज्वलंत अग्नि के समान तेजस्वी रूप को देखकर श्रीवास-पंडित की समाधि भंग हो गई और वे चारों ओर देखने लगे। तभी उन्होंने देखा कि विश्वम्भर चतुर्भुज रूप में शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये वीरासन पर बैठे हुए हैं। वे उन्मत्त सिंह की भाँति गर्जना कर रहे हैं। तथा बाईं बगल में ताल ठोकते हुए हुँकार कर रह हैं। मैं साधुओं का उद्धार करूँगा और सब दुष्टों का विनाश करूँगा। तुम्हारे लिए कोई चिंता की बात नहीं हैं, बस तुम मेरे स्तव का

पाठ करो। नृसिंह-आवेश में प्रभु हाथ में गदा लेकर पाषण्डियों को मारने के लिए नगर की ओर दौड़ पड़े।

श्रीगौरसुन्दर भक्तभाव से श्रीनृसिंह-उपासना का प्रचार करने लिए स्वयं नृसिंह-प्रणाम और स्तव-स्तुति करते थे। पुरी धाम में रहते समय—

"बाइश पहाच-पाछे उपर दक्षिण-दिके।
एक नृसिंह-मूर्ति आछेन उठिते वामभागे॥
प्रतिदिन ताँरे प्रभु करेन नमस्कार।
नमस्करि एइ श्लोक पड़े बार बार॥
नमस्ते नरसिंहाय प्रह्लादाह्लाद-दायिने।
हिरण्यकशिपोर्वक्षः शिलाटंक नखालये॥"

—(चैः चः अन्त्य १६वा)

अर्थात् बाइस हाथ पीछे ऊपर दक्षिण सें बायीं ओर एक नृसिंह-मूर्ति हैं। प्रतिदिन प्रभु उन्हें नमस्कार करते हैं। नमस्कार कर यह श्लोक बार-बार पढ़ते हैं। 'नमस्ते नरसिंहाय प्रह्लादह्लाद-दायिने। हिरण्यकशिपोर्वक्षः शिलाटंक नखालये'.

फिर गुण्डिचा-मंदिर मार्जन-लीला के समय 'गुण्डिचा-बाड़ी' के निकट जो प्राचीन नृसिंह मंदिर अवस्थित है, उस मंदिर का भी मार्जन वे अपनी परिकरों को साथ लेकर किया करते थे,—**"नृसिंह-मंदिर भितर-बाहिर शोधिल"** (चैः चः मध्य १२/१३६) (नृसिंह मंदिर के बाहर-भीतर साफ-सफाई की)। फिर महाप्रभु दक्षिण भारत में श्रीनाम प्रचार के लिए जाकर प्रसिद्ध नृसिंह-क्षेत्रोम में बहुत नृत्य-कीर्तन करते।

"जियड़-नृसिंह-क्षेत्रे कतदिने गेला॥
नृसिंह देखिया कैल दण्डवत् प्रणति।
प्रेमावेशे कैल बहु नृत्य-गीत-स्तुति॥
'श्रीनृसिंह, जय नृसिंह, जय जय नृसिंह।
प्रह्लादेश जय पद्मामुखपद्म-भृंग॥'

—(चैः चः मध्य ८वां)

"**अहोबल-नृसिंहेरे** करिला गमन।
नृसिंह देखिया ताँरे कैला नति-स्तुति।"

—(चैः चः मध्य ९वां)

"**पाना-नृसिंहे** आइला प्रभु दयामय॥
नृसिंहे प्रणति-स्तुति प्रेमावेशे कैल।
प्रभुर प्रभावे लोक चमत्कार हैल॥"

—(चैः चः मध्य ९वा)

अर्थात् पहले के भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी को वैष्णव करते हुए आगे चले और कुछ दिनों मे ही 'जियड़ नृसिंह' क्षेत्र में आ पहुँचे। श्रीनृसिंह भगवान् का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें दण्डवत प्रणाम किया और प्रेम के आवेश में बहुत नृत्य, गीत और स्तव किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्तव करते हुए कहा, "श्रीनृसिंहदेव की जय हो, जय हो। प्रह्लाद महाराज के ईश्वर श्रीनृसिंहदेव की जय हो। श्रीलक्ष्मी के मुखकमल के मधुकर की जय हो।" अहोबल नामक स्थान पर पहुँचकर श्रीनृसिंहदेव का दर्शन करके उनको प्रणाम करने के बाद उनकी स्तुति की। दयामय श्रीचैतन्य महाप्रभु पाना-नृसिंह में आ गये। प्रभु ने प्रेमावेश में इस प्रकार से नृसिंह भगवान को प्रणाम तथा स्तुति किया कि प्रभु के प्रभाव को देखकर लोग चमत्कृत हो गये।

श्रीअद्वैताचार्य के पुत्र 'गोपाल' एक बार पुरी धाम में महाप्रभु के आदेश से कीर्तन और नृत्य करते हुए बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़े। तब श्रीअद्वैत ने गोपाल को गोद में लेकर 'नृसिंह-मंत्र' के उच्चारण के द्वारा बालक को होश में लाने की चेष्टा की—

"नृसिंहेर मंत्र पड़ि मारे जल छाँटि।
हुँकारेर शब्दे ब्रह्माण्ड जाय फाटि॥"

अर्थात् नृसिंहदेव का मंत्र पढ़कर जल का छींटा मारते हैं। हुँकार की ध्वनि से मानो ब्रह्माण्ड फट जाता हैं।

ॐ विष्णुपाद सच्चिदानन्द श्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुर सर्वदा श्रीनृसिंह-नामोच्चारण करके समस्त कार्य सम्पादित करते थे। जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बचपन में भक्त-वत्सल 'नृसिंह-मंत्र' में दीक्षित हुए थे। उन्होंने भक्तों को भी अपने आचरण द्वारा नृसिंह-निष्ठा की शिक्षा दी थी। उनकी शिक्षा से उनके सब सभी आश्रितगण 'श्रीनृसिंह-चतुर्दशी' दिवस में उपवास के साथ श्रीनृसिंहदेव की विशेष आराधना करते हैं और प्रचारकगण श्रीनृसिंह-मंत्र का उच्चारण कर शुद्ध-भक्ति-प्रचार के समस्त कार्य करते हैं। वे दक्षिण देश में श्रीगौरवाणी के प्रचार के लिए निकलकर गौरहरि द्वारा

पठित इस 'नृसिंह-स्तव' का उच्चारण करके ही हर जगह आते-जाते थे—

"इतो नृसिंह परतो नृसिंहो यतो यतो यामि ततो नृसिहः।
बहिर्नृसिंहो हृदये नृसिंहो नृसिंहमादिं शरणं प्रपद्ये॥"

अर्थात्,—'इधर नृसिंह, उधर नृसिंह, जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहीं नृसिंह हैं, बाहर नृसिंह, हृदय में नृसिंह—उन आदि नृसिंह के मैं शरणागत होता हूँ।' इस मंत्र में श्रीनृसिंह के विभुत्व तथा व्यापकत्व एवं शुद्ध-भक्ति-प्रचारकों द्वारा सर्वत्र ही अधोक्षज श्रीनृसिंहदेव का निज-रक्षक रूप मे दर्शन—प्रमाणित हुआ है। वे सद्धर्मसेतु हैं।

श्रीनृसिंह-पूजा की विशेषता यह है कि, कोई व्यक्ति किसी भी रस में किसी भी विष्णु-विग्रह की आराधना करे, किन्तु श्रीनृसिंह-पूजा करने से उसका उन आराध्य के प्रति निष्ठा में व्यवधान नहीं होता है। श्रीनृसिंहदेव शुद्ध-भक्तों का विघ्न दूर कर उनकी उस आराधना में सहायता करते हैं। इसी कारण से केवल मात्र शुद्ध-भक्त ही श्रीनृसिंहदेव के आश्रय में अपने-अपने साधन-भजन में व्रती हुआ करते हैं। श्रीनृसिंह-मंत्र को 'मंत्रराज' कहा जाता है। 'नृसिंह-तापनी' उपनिषद्, 'श्रीनृसिंह-पुराण' आदि ग्रंथों में श्रीनृसिंहदेवक की महिमा का गान हुआ है। विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के श्रीकृष्णदेवाचार्य ने 'नृसिंह-परिचर्या' ग्रंथ में श्रीनृसिंहदेव की अर्चन-विधि विस्तारित रूप से लिपिबद्ध की है।

कुछ प्रसिद्ध 'श्रीनृसिंह-क्षेत्र'

देवपल्ली

श्रीधाम नवद्वीप-मण्डल के अन्तर्गत एक स्थान है—देवपल्ली। नवद्वीप से 'कृष्णनगर' जाने के मार्ग में लगभग दस किः मिः दूर रास्ते में यह स्थान है। साधारण भाषा में यह 'दे-पाड़ा' नाम से कथित है।

भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने सत्ययुग में हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद श्रीधाम नवद्वीप के अन्तर्गत इसी 'देवपल्ली' में विश्राम ग्रहण किया था। वास्तव में यह उनका नित्य निवास-स्थान है। श्रीगौरसुन्दर जिस तरह से सभी अवतारों के आश्रय-स्वरूप हैं, उसी तरह सें उनके धाम श्रीनवद्वीप-मण्डल में भी विभिन्न अवतारों के स्थान नित्य विराजमान हैं। भगवान् श्रीनृसिंहदेव के इसी निवासस्थान को ध्यान में रखकर ब्रह्मादि देवताओं ने यहाँ मन्दाकिनी के तट पर टीले के ऊपर अपनी-अपनी भजन कुटीर का निर्माण किया था। उसी से ही यह स्थान देवताओं का पल्ली-स्वरूप हो गया था। इसीलिए इस स्थान का नाम हुआ 'देवपल्ली'। किन्तु कालक्रम में भागीरथी और उन भजन कुटीरों के लुप्त होने पर भी आज भी उस स्थान पर देवताओं के वही भजन-टीले हैं—सूर्यटीला, ब्रह्मटीला, गणेशटीला अदि उच्च-भूमि प्राचीन निदर्शन के रूप में निर्धारित है। कुछ समय बाद श्रीनृसिंहदेव के कृपा-आदेश से किसी भक्त-प्रवर ने इस स्थान पर मंदिर का निर्माण कर श्रीनृसिंह-देवा प्रकाशित की थी। श्रीमदिंर में भगवान् का जो श्रीविग्रह विराजमान है—वह अत्यंत प्राचीन और 'स्वयम्भु' अर्थात् स्वयं प्रकटित विग्रह है। कहा जाता है कि, यह श्रीविग्रह सत्ययुग से ही विराजमान है। किन्तु दुख की बात है कि, वर्तमान में काल के प्रभाव से श्रीविग्रह के कुछ अंग क्षय हो गये हैं।

श्रीनवद्वीप के नौं द्वीपों के अन्तर्गत जो 'कीर्तनाख्य' 'गोद्रुम'-द्वीप है, उसी के अन्तर्गत यह देवपल्ली है। वस्तुतः श्रीगौरसुन्दर द्वारा प्रवर्त्तित कीर्तन-प्रधान निगूढ़ व्रज-भक्ति के संरक्षणकारी तथा विघ्न-विनाशकारी रूप में भगवान् श्रीनृसिंहदेव इस स्थान पर नित्य विराजित हैं। प्रह्लाद महाराज ने श्रीनृसिंहदेव का जो स्तव किया था—**"धर्म महापुरुष पासि युगानुवृत्तं छन्नः कलौ"** (भाः ७/९/३८)—उस वाक्य के अनुसार समझा जाता है कि भगवान् श्रीनृसिंह, छन्नावतार—

श्रीगौरसुन्दर के 'संकीर्तन-धरम' के रक्षक-रूप में श्रीनवद्वीप धाम में निज-क्षेत्र में अवस्थित रहते हैं।

इसीलिए देखा जाता है कि श्रीमन्महाप्रभु का संकीर्तन बंद करने के उद्देश से चाँदकाजी ने जब श्रीवास-आंगन के निकट मृदंग तोड़कर सकीर्तन निषेध कर दिया था, उसी रात को ही श्रीनृसिंहदेव स्वप्न में काजी के पास जाकर भयंकर रूप धारण करके उनकी छाती के ऊपर चढ़कर बैठ गये थे। क्रोध में दाँत पीसते हुए काजी के सीने में नाखुन धंसाकर उन्होंने उससे कहा था—"रे काजी! तेरे मृदंग तोड़ने बदले अब मैं तेरी छाती को फोडकर रख दूँगा। तु मेरा कीर्तन रोक देता है! तेरा इतना साहस!" यह देखकर भय के मारे काज़ी आँखे बंदकर काँपने लगा। काज़ी को भयभीत देखकर भय ने उनके प्रति दयावान होकर कहा,—'तुझे सबक सिखाने के लिए ही मैं किन्तु दुबारा यदि फिर ऐसा कुछ किया तो तुझे तेरे वंश सहित और तेरे छाती फाड़ने का अभिनय करके दिखाया—जिससे उसकी छाती पर नाखुनों का निशान पड़ गया। स्वप्न टूटने बाद उस चिह्न को वास्तव में देखकर इसी घटना से ही श्रीनृसिंहदेव को महाप्रभु के संकीर्तन-धर्म के रक्षक-रूप में समझा जा सकता हैं—और इसीलिए ही वे उनके अपने क्षेत्र देवपल्ली में नित्य निवास करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु के पार्षदों में 'श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी'—श्रीनृसिंह उपासक इसीलिए महाप्रभु ने उन्हें 'नृसिहानन्द' नाम प्रदान किया। **"श्रीनृसिंह उपासक—प्रद्युम्न ब्रह्मचारी। प्रभु ताँर नाम कैला नृसिंहानन्द करि॥"** (चैः चः आः १०/३५); **"जाँहार शरीरे नृसिंहेर परकाश"** (चैः भाः अः ३/१८६) (अर्थात् जिनके शरीर में नृसिंहदेव का प्रकाश विद्यमान था); **"साक्षात् नृसिंह जाँर सने कथा कय"** (चैः भाः अः ९वां अध्याय) (साक्षात् नृसिंहदेव जिनसे बातचीत करते थे)। वे ध्यानयोग के द्वारा महाप्रभु की समस्त गतिविधियों के बारे में जान जाते थे। एक समय महाप्रभु के द्वारा 'कुलिया' से वृन्दावन के लिए यात्रा करने पर वे ध्यानस्थ होकर महाप्रभु का रास्ता तैयार करने लगे। किन्तु जब 'कानाइ नाटशाला' से आगे उनका ध्यान नहीं जा सका तो उन्होंने सबके सामने घोषणा की कि, 'महाप्रभु वृन्दावन नहीं जाकर 'कानाइ नाटशाला' से लौट आयेंगे।' और एक समय उन्होंने श्रीशिवानन्द के घर में ध्यान के द्वारा महाप्रभु को पानिहाटी से उस स्थान पर 'आविर्भुत' कराकर साक्षात् रूप से उन्हें नैवेद्य भोजन कराया था। वे इस प्रकार से क्षमता-सम्पन्न थे। वे इसी देवपल्ली में

रहकर ही श्रीनृसिंहदेव का भजन करते थे। इस संबंध में जैवधर्म ग्रंथ में देखा जाता है कि—"परमहंस बाबाजी ने कुछ दिन के बाद कहा, —हे महात्मन्! श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी ठाकुर ने कृपा करके मुझे अपने चरणों में रखा है। वे आजकल श्रीनवद्वीप-मण्डल के एक प्रान्त में श्रीदेवपली ग्राम में श्रीनृसिंह-उपासना में मग्न हैं।" भगवान् श्रीनृसिंहदेव इस स्थान पर साक्षात् रूप से उनके साथ बातचीत करते थे।

भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने इस क्षेत्र में गुणी व्यक्तियों को आकर शरणागत होते हुए देखकर, प्रसन्नता से उन्हें निविर्घ्न गौरभजन का अधिकार प्रदान किया। भजन-प्रयासी व्यक्तिगण इस क्षेत्र में आकर श्रीनृसिंहपादपद्म में किस तरह से प्रार्थना करेंगे, उसे श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने इस तरह से बताया है—

"नरहरि-क्षेत्रे प्रेमे गड़ागड़ि दिया।
निष्कपट कृष्णप्रेम लइब मागिया॥
एइ दुष्ट हृदये काम आदि रिपु छय।
कुटिनाटि प्रतिष्ठाशा शाठ्य सदा रय॥
हृदय शोधन आर कृष्णेर वासना।
नृसिंह-चरणे मोर एइ त' कामना॥
काँदिया नृसिंह-पदे मागिब कखन।
निरापदे नवद्वीपे युगल-भजन॥
भय, भय पाय जाँर दर्शने से हरि।
प्रसन्न हइबे कबे मोरे दया करि॥
यद्यपि भीषण मूर्ति दुष्ट जीव-प्रति।
प्रह्लादादि कृष्णभक्त-जने भद्र अति॥
कबे वा प्रसन्न हये सकृप-वचने।
निर्भय करिबे एइ मूढ़ अकिंचने॥
'स्वच्छंदे बैस हे वत्स, श्रीगौरांग धामे।
युगलभजन हउ, रति हउ नामे॥
मम भक्तकृपा-बले विघ्न जाबे दूर।
शुद्धचित्ते भज राधाकृष्ण-ससपूर॥'
एइ बलि' कबे मोरे मस्तक-ऊपर।
स्वीय श्रीचरण हर्षे धरिबे ईश्वर॥
अमनि युगल-प्रेमे सात्त्विक विकारे।
धराय लुटिब आमि श्रीनृसिंह-द्वारे॥"

—(श्रीनवद्वीप-भावतरंग)

(अर्थात् नरहरि क्षेत्र में प्रेम से लोटपोट होकर कृष्णप्रेम निष्कपट रूप मे माँग लूँगा। इस दुष्ट हृदय में काम आदि छह रिपु, कुटिलता, प्रतिष्ठाशा, धूर्तता आदि सदा रहते है। हृदय शोधन और कृष्ण-प्राप्ति की इच्छा—यही कामना श्रीनृसिंहदेव के चरणों में मेरी है। रो-रोकर नृसिंहदेव के चरणों में निर्विघ्न रूप से नवद्वीप में युगल भजन की प्रार्थना कब करूँगा। 'भय' जिनके दर्शन से भीत होता है, वे श्रीहरि प्रसन्न होकर कब मुझ पर दया करेंगे। आदि कृष्ण-भक्तों के लिए अति कोमल हैं। पुनः कब प्रसन्न होकर कृपामय निर्भय होकर रहो। तुम्हारा युगल-भजन सिद्ध हो और श्रीनाम में तुम्हारी रति हो। मेरे भक्तों की कृपा के बल पर समस्त विघ्न दूर हो जायेंगे। शुद्ध-चित्त से रसमय राधाकृष्ण का भजन करो। ऐसा कहकर मेरे मस्तक के ऊपर प्रसन्नतापूर्वक ईश्वर कब अपना श्रीचरण रखेंगे। उसी क्षण युगल-प्रेम के सात्त्विक विकार में मैं श्रीनृसिंहदेव के द्वार पर भूमि पर लोट जाऊँगा)।

इसी देवपल्ली में परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म महाभागवत नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज जी द्वारा स्थापित 'श्रीनृसिंह-पल्ली गौड़ीय सेवाश्रम' है। अतः श्रीगौड़ीय दर्शनार्थी भक्तों के लिए वह एक आश्रय स्थल है।

सिंहाचलम्

दक्षिण-भारत में 'आन्ध्र प्रदेश' राज्य में समुद्र के पूर्वी तट पर 'विशाखापत्तनम्' नामक एक समृद्ध नगरी के एक प्रान्त में 'सिंहाचलम्' नामक एक प्रसिद्ध 'श्रीनृसिंह-क्षेत्र अवस्थित है। 'दक्षिणपूर्व' रेल पथ के 'सिंहाचलम्' नामक स्टेशन से उक्त क्षेत्र मात्र चार कि.मी. दूर है। किन्तु इस स्टेशन पर साधारणतः दूरगामी ट्रेनों का ठहराव नहीं है, इसीलिए विशाखापत्तनम् स्टेशन से ही उक्त स्थान पर जाना पड़ता है। वहाँ से 'सिहांचलम्' नामक एक प्रसिद्ध 'श्रीनृसिंह-क्षेत्र' अवस्थित हैं। 'दक्षिणपूर्व' रेल पथ के 'सिंहाचलम्' नामक स्टेशन से उक्त क्षेत्र मात्र चार किः मीः दूर है। किन्तु इस स्टेशन पर साधारणतः दूरगामी ट्रेनों का ठहराव नहीं हैं, इसीलिए विशाखापत्तनम् स्टेशन से साधारणतः दूरगामी ट्रेनों का ठहराव नहीं है, इसीलिए विशाखापत्तनम् स्टेशन से ही उक्त स्थान पर जाना पड़ता है। वहाँ से 'सिंहाचलम्' या 'सिंहाचलम्-मंदिर' ही उक्त स्थान पर जाना पड़ता है। वहाँ से

'सिंहाचलम्' या 'सिंहाचलम्-मंदिर' तक लगभग सोलह कि.मी. रास्ता बस द्वारा तय करने में कोई असुविधा नहीं होती है।

'सिंहाद्रि' या 'सिंहाचल' नामक पर्वत के ऊपर भगवान् श्रीनृसिंहदेव का मंदिर अवस्थित है। पर्वत के ऊपर बस के द्वारा जाने की सुव्यवस्था है। फिर पद-यात्रियों के लिए लगभग ११०० पादान (पायदान) की सुन्दर निर्मित सीढ़ियाँ भी है। विचित्र वृक्षलता-गुल्म और झरने से परिपूर्ण उस पर्वत के ऊपर अत्यन्त मनोरम प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच श्रीमन्दिर शोभायमान है। मन्दिर अति प्राचीन विशाल और स्थापत्य-कला का विशेष निदर्शन-स्वरूप है। मंदिर से कुछ ही दूरी पर एक गोमुख से 'गंगाधर' नामक पवित्र जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है। उक्त जलधारा में स्नान करके भगवद्-दर्शन का विशेष माहात्म्य है। यहाँ 'श्री-सम्प्रदायी' वैष्णवों के द्वारा श्रीभगवान् के समस्त सेवापूजा-कार्य सम्पन्न होते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सन् १५२२ में दक्षिण भारत के उद्धार के लिए पुरी से यात्रा करके 'कूर्माचल' होकर इस स्थान में पदार्पण किया था। 'श्रीकुर्मम्' नामक प्रसिद्ध उक्त स्थान विशाखापत्तनम् से उत्तर को ओर बस से मात्र दो घण्टे का रास्ता है। 'श्रीकाकुलम् (सिकाकुलम्)'-नामक स्टेशन से भी उक्त 'श्रीकुर्मम्' जाने की सुव्यवस्था है। श्रीमन्महाप्रभु उसी कूर्मक्षेत्र में कूर्मदेव के दर्शन तथा कुष्ठ 'वासुदेव-विप्र' का उद्धार करने के बाद सिंहाचलम् में उपस्थित हुए थे।

'जियड़-नृसिंह-क्षेत्रे कतदिने गेला॥
नृसिंह देखिया कैल दण्डवत्-प्रणति।
प्रेमावेशे कैल बहु नृत्य-गीत-स्तुति॥
श्रीनृसिंह, जय नृसिंह, जय जय नृसिंह।
प्रह्लादेश जय पद्मामुखपद्म-भृंग॥"
"उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानं नृकेशरी।
केशरीव स्वपोतानामन्येशामुग्रविक्रमः॥"
एइमत नाना श्लोक पड़ स्तुति कैल।
नृसिंह-सेवक माल-प्रसाद आनि दिल॥
पूर्ववत् कोन विप्रे कैल निमंत्रण।
सेइ रात्रि ताँहा रहि करिला गमन॥

—(चैः चः मध्य ८वां, ३-८)

अर्थात् पहले की भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी को वैष्णव करते आगे चले और कुछ दिनों में ही 'जियड़ नृसिंह' क्षेत्र में आ पहुँचे। श्रीनृसिंह भगवान् का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें दण्डवत प्रणाम किया और प्रेम के आवेश में बहुत नृत्य, गीत और स्तव किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्तव करते हुए कहा, "श्रीनृसिंहदेव की जय हो, जय हो। प्रह्लाद महाराज के ईश्वर श्रीनृसिंहदेव की जय हो। श्रीलक्ष्मी के मुखकमल के मधुकर की जय हो।" सिंह जिस प्रकार खुँखार होने पर भी अपनी संतान के प्रति उग्र नहीं होता है, उसी प्रकार श्रीनृसिंहदेव हिरण्यकशिपु आदि असुरों के प्रति उग्र होने पर भी प्रह्लाद आदि अपने भक्तों के प्रति स्नेह से पूर्ण होए हैं। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अनेक श्लोक पढ़कर नृसिंह भगवान् की स्तुति की और नृसिंह भगवान् के सेवक ने उन्हें प्रसादी माला लाकर दी। पहले की तरह किसी विप्र ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को निमन्त्रण दिया और उस रात श्रीचैतन्य महाप्रभु वहाँ रह गये तथा अगले दिन पुनः यात्रा आरम्भ की।

जगद्गुरु श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने महाप्रभु के सिंहाचलम् में शुभपदार्पण का साक्ष्य बनाये रखने के लिए सन् १९३३ में इस स्थान पर महाप्रभु के पादपीठ की स्थापना की। उक्त पादपीठ, मंदिर के प्रवेश के प्रधान सीढ़ी-पथ के मुहाने पर ही बायीं और अवस्थित है।

किन्तु 'जियड़ नृसिंह' के रूप में श्रीचरितामृत-कथित नाम से श्रीभगवान् उस स्थान पर विशेष प्रसिद्ध नहीं है। वे 'श्रीवराह-नृसिंह-स्वामी' नाम से ही प्रसिद्ध है। लेकिन विशिष्टाद्वैतवादी श्री-सम्प्रदायि-वैष्णवों द्वारा वे सेवित होते आहे हैं, इसीलिए संभवतः 'जियड़ नृसिंह' नाम का प्रचलन किसी-किसी स्थान पर हुआ होगा। 'जियड़' कहने पर उक्त सम्प्रदाय में 'त्रिदण्डी', 'तत्त्वत्रयम्' आदि लक्षित होते हैं।

मूल गर्भ-मंदिर में जहाँ भगवद्-विग्रह विराजमान हैं, उनका श्रीमुख 'वराह' आकृति का होने पर भी वे मूल रूप से 'श्रीनृसिंह' हैं। उक्त विग्रह में सिंह की तरह पूँछ उनका बाया कंधा अतिक्रम कर गोलाकार में शोभायमान हैं, अन्य सब अंग—नराकार के हैं। भगवान् का यह विशेष रूप 'निजरूपम्' नाम से यहाँ प्रसिद्ध है। हालाकिं यह रूप पूरे वर्ष में केवल वैशाख-मास की 'अक्षय-तृतीया' तिथि को ही मात्र सारे लोगों को दिखायी पड़ता है—अन्य समय चन्दन से वह पूरी तरह से ढके रहते हैं, वह 'नित्यरूपम्' नाम से

प्रसिद्ध है। दर्शनार्थीगण इसी रूप के ही दर्शन पूरे वर्ष में करते हैं। विजय-मूर्ति या उत्सव-मूर्ति 'गर्भ-मंदिर के बाहरी प्रकोष्ठ में सेवित हुआ करती है।

इस स्थान का इतिहास यह है कि हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद का किसी भी उपाय से वध से नहीं कर पाने पर अंत में राक्षसों को आदेश दिया कि,—प्रह्लाद को समुद्र में नक्र-मकर आदि भयंकर जीव-जन्तुओं से पूर्ण स्थान में फेंककर उसके ऊपर एक विशाल पर्वत रखा दिया जाय ताकि वह दुबारा दैत्य-राज्य में लौट सके। राक्षसों ने वैसा ही किया। किन्तु समुद्र ने ध्यानस्थ प्रह्लाद को पाकर उस स्थान को जलहीन करके पर्वत को जल के ऊपर तैराते हुए रख दिया। इधर श्रीहरि गरुड़ की पीठ पर सवार होकर तत्क्षण तीव्र वेग से उस स्थान पर अवतीर्ण हुए। बिजली की फुर्ति से छलांग लगाकर उन्होंने सबसे पहले पर्वत को उठाकर उसे यथास्थान पर स्थापित किया और प्रह्लाद को निकालकर उस पर्वत के ऊपर ले जाकर उसके सारे कष्टों को दूर किया। श्रीहरि ने उसी समय उन्हें श्रीवराह-नृसिंह रूप में दर्शन देकर, वराह रूप में हिरण्याक्ष के वध का वृत्तांत सुनाकर नृसिंह रूप में हिरण्यकशिपु के वधा का संकल्प लिया। और प्रह्लाद के संबंध में उस-स्थान को सदैव शाश्वत बनाये रखने के लिए वे उस स्थान पर श्रीवराह-नृसिंह के रूप में, उक्त पर्वत के ऊपर नित्य अवस्थित होकर पूजित होंगे, ऐसा उन्होंने बताया। तभी से वह पर्वत और स्थान 'सिंहाचलम्' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसके बाद भगवान् के आदेश से प्रह्लाद अपने स्थान पर लौट गये। हिरण्यकशिपु के वध के पश्चात राज्य-शासन से भार-मुक्त होने के बाद प्रह्लाद ने सिंहाचलम् आकर श्रीहरि के उस श्रीविग्रह को ढूँढकर मंदिर का निर्माण करवाया और सेवा-पूजा आरम्भ की थी। प्रह्लाद की वैकुण्ठ-यात्रा के बाद कालक्रम से मंदिर लुप्त हो गया और उक्त भगवद्-विग्रह चींटियों के टीले से ढक गया। इसके बाद बहुत वर्षों बाद एकदिन महाराज पुरूरवा उर्वशी के साथ अपने विमान में सवार होकर उक्त स्थान के ऊपर से जा रहे थे कि एक दिव्य आकर्षण के बल से उस पर्वत पर अवतरित हुए। स्वप्न में भगवद्-स्थान की खोज और निर्देश पाकर महाराज ने तदनुसार प्रचुर दूध वर्षण करके टीले से श्रीविग्रह का आविष्कार किया; किन्तु बार-बार दूध की बरसात करने पर भी श्रीचरण भूगर्भ में अदृश्य ही रहे—

प्रकटित नही हुए। इससे महाराज के अत्यन्त दुःखी हो जाने पर आकाशवाणी हुई—श्रीचरण किसी के भी दृष्टिगोचर नहीं होंगे, चूंकि उनके दर्शन मात्र से ही महामुक्ति निश्चित है। महाराज! तुम पंचामृत में स्नान द्वारा षोड़शोपचार से श्रीविग्रह की पूजा सम्पन्न करो। इसके बाद सुगन्धित चंदन द्वारा सम्पूर्ण विग्रह को आवृत कर दो और उसी चन्दन-आवृत अवस्था में ही प्रतिदिन श्रीविग्रह की पूजा सम्पन्न करो। वर्ष में केवलमात्र वैशाख मास की अक्षय तृतीया तिथि में ही उक्त चन्दन का उन्मोचन करना। उस समय उनके दर्शन 'परमपद-प्रापक' हुआ करते हैं। श्रीविग्रह का पंचामृत से महाभिषेक और महा-निवेदन के बाद दुबारा चन्दन-आवरण करना होगा।"

महाराजा पुरूरवा ने ऐसा ही किया। इसके बाद उन्होंने बहुत प्रसिद्ध वास्तुकलाकारों को लाकर विशाल श्रीमंदिर का निर्माण किया और वैदिक ब्राह्मणों को बुलाकर उनके निवास की सुव्यवस्था कर दी। तब से ही विभिन्न राजाओं के पूर्ण सहयोग से आज भी श्रीविग्रह की सेवापूजा यथारीति चली आ रही है। विजयनगर के राजागण गत दो सौ वर्षों से वंश परम्परा में श्रीमन्दिर के प्रधान ट्रस्टी के रूप में कार्य कर रहे हैं।

विशाखापत्तनम् में महाराणिपेटा श्रीकृष्णनगरम् स्थान में महाभागवत गौड़ीय वैष्णवाचार्य नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीश्रीमद् भक्तिवैभव पुरी गोस्वामी महाराज द्वारा प्रतिष्ठित **"श्रीकृष्णचैतन्य मठम्"** नाम से एक प्रसिद्ध श्रीगौडीय मठ अवस्थित है। दर्शनार्थी गौड़ीय भक्तों के लिए वह एक आश्रम स्थल है।

मंगलगिरि

आंध्रप्रदेश के प्रसिद्ध नगर 'विजयवाडा' लगभग १२ किः मीः दूर गुण्टुर की ओर सड़क मार्ग और रेलमार्ग में 'मंगलगिरि' विराजमान है। गुण्टुर से लगभग २१ किः मीः उत्तर पश्चिम में अवस्थित उक्त स्थान 'श्रीनृसिंह-क्षेत्र' के रूप में बहुत प्रसिद्ध है। इस स्थान पर श्रीभगवान् "पानकल लक्ष्मी-नृसिंह स्वामी" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु, दक्षिण भारत परिभ्रमण के समय गोदावरी के पश्चिम तट पर 'विद्यापूर' में, गोस्पद-घाट में, श्रीराय-रामानन्द प्रभु के साथ दस दिनों तक रहकर वहाँ से 'श्रीपाना-नृसिंह' दर्शन के लिए मंगलगिरि आये थे। उक्त 'विद्यापुर' वर्त्तमान में 'कवूर' नाम से प्रसिद्ध

है तथा वहाँ महाप्रभु और श्रीरामानन्द-राय के उसी बैठक स्थल पर श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद जी द्वारा प्रतिष्ठित **"श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ"**—एक विशेष प्रसिद्ध स्थान है। कबूर से सड़क और रेल मार्ग से लगभग तीन घण्टे का रास्ता है 'विजयवाड़ा'। श्रीमन् महाप्रभु 'कवूर' से 'मंगलगिरि' गये थे, भले ही श्रीचैतन्यचरितामृत में उस अनुक्रम में उसका वर्णन नहीं है। इस सम्बन्ध में स्वयं ग्रन्थकार ने भी स्वीकार करते हुए इस प्रकार कहा हैं—"इन सब तीर्थों का क्रम नहीं कह सकता हूँ" इत्यादि। जो भी हो महाप्रभु के 'पाना-नृसिंह' दर्शन के सम्बन्ध में वर्णन इस प्रकार है—

"स्वप्रभावे लोक-सबारे कराइया विस्मय।
पाना-नृसिंहे आइला प्रभु दयामय॥
नृसिंहे प्रणति-स्तुति प्रेमावेशे कैल।
प्रभुर प्रभावे लोक चमत्कार हैल॥"

—(चैः चः मध्य ९/६६-६७)

(अपने प्रभाव से लोगों को आश्चर्यचकित करके दयामय श्रीचैतन्य महाप्रभु पाना-नृसिंह के मन्दिर में आ गये। उन्होंने प्रेम के आवेश में इस प्रकार से भगवान् नृसिंहदेव को प्रणाम एवं स्त्व किया कि प्रभु का प्रभाव देखकर लोग चमत्कृत होत गये)।

ठाकुर श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने सन् १९३० में इसी 'मंगलगिरि' पर्वत पर श्रीचैतन्य महाप्रभु के पादपीठ की स्थापना की थी। वर्तमान मे उक्त पादपीठ, उस स्थान पर निर्मित पंचचूड़ा-विशिष्ट मंदिर में विराजमान है।

'मंगलगिरि' पर्वत के नीचे समतल भूमि पर एक विशाल मंदिर देखा जाता है—इस मंदिर में भी 'श्रीलक्ष्मी-नृसिंह' सेवित होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि, यह मन्दिर पहले पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर महाराज द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था। लोकोक्ति है कि मंगलगिरि से कुछ दूर 'इन्द्रकिल-गिरि' पर मध्यम पाण्डव अर्जुन ने शिवजी महाराज से पाशुपत-अस्त्र प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी। जो हो, युधिष्ठिर महाराज के उक्त मंदिर से पैदल और सड़क मार्ग दोनों से ही 'मंगलगिरि' पर्वत के ऊपर पहुँचा जा सकता है। उक्त पर्वत ऊँचा होने पर भी श्रीमंदिर पर्वत के लगभग मध्य भाग में अवस्थित है—मात्र ६०० सीढ़ियाँ चढ़नेपर ही मूल मंदिर है। पैदल जाने के इस रास्ते से चलने पर पहले ही बायीं ओर द्वारपाल के रूप में श्रीशिवजी महाराज का मंदिर है—पीछे की सीढ़ियों से लगभग १००

पादान पार करने पर श्रीचैतन्य महाप्रभु का पादपीठ, उसके कुछ ऊपर 'श्रीवेंकटेश्वर-मंदिर' और सबसे ऊपर 'श्रीपानकल-नृसिंह' मंदिर विराजमान है। इस मंदिर के पीछे तथा कुछ ऊपर श्रीलक्ष्मी देवी का मंदिर, श्रीवल्लभाचार्य का आसन और एक सुरंग अवस्थित है—जो कहा जाता है कि 'कृष्णा' नदी के किनारे किसी गुफा से जुड़ी हुई है।

मंदिर के अन्द्र गर्भ-मंदिर वास्तव में एक गुफा के समान है; उसमें जो श्रीविग्रह विराजमान हैं, वे केवल विस्फारित 'सिंहवदन' (खुला हुआ मुख) मात्र हैं, बाकी अंग अदृश्य हैं। भक्तों द्वारा मिशरी का शरबत या गुड़ का शरबत भोग लगाने पर ये विग्रह साक्षात् रूप से आधा शरबत सबके सामने पी जाते हैं। पुजारी शंख के द्वारा शरबत-पास से शरबत भगवान् के श्रीमुख में तब तक डालते रहते हैं—जब तक श्रीविग्रह के मुख से शरबत लौटकर नहीं आता नहीं आता है। उक्त लौटकर आये शरबत को शंख में लेकर उसे शरबत पात्र में डालकर 'महाप्रसाद' के रूप में भक्तों को उपहार दिया जाता है। इस प्रकार से दिनभर भगवान् भक्तों से शरबत ग्रहण करते हैं। इसी मिशरी (मिश्री) या गुड़ के शरबत को स्थानीय भाषा 'पानकम्' कहा जाता है। इसीलिए श्रीविग्रह 'पानकल नृसिंह' नाम से विख्यात है। देखने योग्य बात यह है कि, मंदिर में शरबत का बहुत उपयोग किये जाने पर भी विग्रह के निकट या मंदिर में कहीं भी कोई चींटी नहीं दिखायी पड़ती है। मंदिर-परिचालना-कमेटी की ओर से ही विभिन्न मूल्यों से उस शरबत की आपूर्ति की व्यवस्था उपलब्ध है। यहाँ पर भी श्रीविग्रह की सेवापूजा 'श्री'-सम्प्रदायि-वैष्णवों के द्वारा सम्पादित होती है।

इस स्थान के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहास इस प्रकार है —'नमुचि' नामक एक असुर ने बहुत तपस्या के द्वारा ब्रह्मा को संतुष्ट करके वर प्राप्त किया था कि, सूखी या भीगी हुई किसी भी वस्तु के उसकी मृत्यु नहीं होगी। वर पाकर उसने इन्द्र आदि देवताओं पर भीषण अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। देवतागण तब भगवान् विष्णु की शरण में गये। वे विष्णुशक्ति में संचारित होकर असुर दल को ध्वंस करने लगे। तब 'नमुचि' मंगलगिरि की एक गुफा में जाकर छिप गया। इन्द्र ने भगवान् आदेश अनुसार सुदर्शन चक्र को समुद्र की झाग में भिगोकर उसे गुफा के बीच निक्षेप कर दिया। भगवान् विष्णु उस चक्र में से भयंकर सिंह-वदन (सिंह का

मुख) रूप मात्र धारण करके प्रकाशित हुए। उनके वदन (मुख) से निःसृत (निकली) 'संहार-अग्नि' से उक्त असुर का निधन हुआ। इसीलिए 'सिंह-वदन'-श्रीविग्रह, 'सुदर्शन' नृसिंह-स्वामी नाम से भी प्रसिद्ध हैं। देवताओं ने आग उगलने वाले सिंहवदन श्रीभगवान् को अमृत पान कराकर शान्त कराया। उससे उन्होंने संतुष्ट होकर कहा कि, वे उसी रूप में उक्त पर्वत की उस गुफा में अवस्थित रहेंगे और सत्ययुग में अमृत, त्रेतायुग में घी, द्वापरयुग में दूध तथा कलियुग में 'पानकम्' पान करके ही विशेष संतुष्ट होंगे। इसीलिए वे कलियुग में 'पानकल नृसिंह-स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हुये।

इस मन्दिर में तान्जोर के भूतपूर्व महाराजा ने 'कृष्ण के द्वारा व्यवहृत कहे जाने वाले' एक शंख का दान किया था। मार्च के महीने में इस स्थान पर बहुत बड़ा मेला लगता है।

मंगलगिरि से २१ किः मीः दूर गुण्टुर शहर में परमपूजनीय महाभागवत गौड़ीय वैष्णवाचार्य प्रभुपाद-प्रियजन नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीश्रीमद् भक्तिविलास तीर्थ गोस्वामी महाराज जी द्वारा स्थापित श्रीगौड़ीय मठ है। अतः श्रीगौड़ीय दर्शनार्थी भक्तों के लिए वह एक आश्रय स्थल है।

अहोबल

यह नृसिंह-क्षेत्र भी आन्ध्र-प्रदेश में अवस्थित है। गुण्टुर (जंक्शन) से गुण्टाकल रेल द्वारा २५८ किः मीः दूर स्थित नन्दयाल नामक रेल-स्टेशन है; वहाँ से बस के द्वारा लगभग ५० किः मीः रास्ता तय करके आलागड्डा (Alagadda) जाना पड़ता है। उक्त स्थान से दुबारा बस के द्वारा लगभग २० किः मीः दूर अवस्थित यह 'अहोबल' नामक नृसिंह-क्षेत्र है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु मंगलागिरि स्थित 'श्रीपाना-नृसिंह' के दर्शन करने के बाद 'श्रीशैलम्' में आकर 'मल्लिकार्जुन'-शिव के दर्शन करके 'अहोबल'-नृसिंह-क्षेत्र में आये थे। **"अहोबल-नृसिंहेर करिला गमन॥ नृसिंह देखिया ताँरे कैल नति स्तुति।"** (चैः चः मध्य ९/१६,१७) (अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभु अहोबल नामक स्थान पर श्रीनृसिंहदेव के दर्शन के लिए पहुँचे। वहाँ नृसिंह भगवान् का दर्शन करके उनको प्रणाम करने बाद उनकी स्तुति की।) इस स्थान पर महाप्रभु का कोई पादपीठ नहीं हुआ है।

इस स्थान की विशेषता यह है कि,—यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् श्रीनृसिंहदेव ने स्तम्भ से प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का वध

किया था। उस समय उन्होंने जो शौर्य-वीर्य पराक्रम और बल प्रकाशित किया था, उसे देखकर सभी देवताओं ने विस्मित होकर कहा था—

"अहो वीर्यम् अहो शौर्यम् अहो बाहु-पराक्रमम्।
नृसिंह परं दैवम् 'अहोबलम्' 'अहोबलम्॥"

अर्थात्, सत्य ही श्रीनृसिंहदेव सर्वश्रेष्ठ देवता हैं, उनका अहो किस प्रकार का वीर्य है! अहो क्या शौर्य है। उनका अहो पराक्रम! अहो बल! अहो बल!—इसी कारण से इस विशेष स्थान नाम 'अहोबल' हुआ है। ब्रह्म-मध्व-सम्प्रदाय में 'द्वितीय मध्वाचार्य' रूप में रूप में सुविख्यात श्रीवादिराज तीर्थपद द्वारा रचित "तीर्थ प्रबंध" ग्रंथ में भी इस स्थान को श्रीनृसिंहदेव के प्रकट स्थान के रूप में वर्णित किया गया है और उसके साथ अशेष महिमा कथित हुई है—

"अहोबल-नृसिंहस्य महोबलमुपाश्रिताः।
असत्तमिस्त्र-संमिश्रां गणयामो न संस्थितम्॥"

अर्थात् 'अहोबल'-क्षेत्र स्थित महातेजस्वी श्रीनृसिंह को आश्रय कर हम इस असत् तमिस्त्र (अंधकार)-मय संसार की और गिनती नहीं करते हैं।

"यस्तम्भे प्रकटी वभूव स मयि सम्भायितेऽपि स्फुटी-
भूयाद् यो भवनाशिनी-तटगतश्छिन्द्यात् स मेऽमुं भवम्।
योऽपाद् बालकमप्यसौ नरहरिर्मां बालिशं पातु यो
रक्षोऽशिक्षदसौ प्रभुः खलकुलं शिक्षत्वरूक्षप्रियः॥"

अर्थात्, जो स्तंभ के भीतर से प्रकट हुए थे, वे स्तंभ के समान ज्ञानादि-रहित—मेरे अन्दर से भी प्रकटित हों, जो 'भवनाशिनी' नदी के तट पर अवस्थित हुए हैं, वे मेरे भव-संसार का नाश करें, जिन्होंने बालक श्रीप्रह्लाद की रक्षा की थी, वे श्रीनृहरि, मेरे जैसे अज्ञ की भी रक्षा करें, जिन्होंने हिरण्यकशिपु नामक राक्षस का वध किया था, वे शान्ति-प्रिय प्रभु समस्त दुर्जनों का नाश करें।

सत्ययुग में इस स्थान पर हिरण्यकशिपु का राज्य था। इस स्थान को 'वेदाचल', 'गरुडाचल', और 'वीरक्षेत्र' नाम से भी पुकारा जाता है। अन्यान्य पर्वतों की अपेक्षा इस स्थान की पर्वत-श्रृंखाल में विशेष बात हैं। पुराणों की वर्णना के अनुसार भगवान् आदिशेष स्वयं 'नल्लमाला' पर्वत के रूप में विराजित हैं, जिनका मस्तक-स्थल—तिरुपति, मध्य-स्थल—अहोबल और पूंछ का अंश—श्रीशैलम् है। अहोबल स्थान दो भागों में विभक्त है—UPPER AHOBAL, जो पर्वतों

में अवस्थित है तथा LOWER AHOBAL, जो पर्वतों के तटवर्ती समतल-भूमि में अवस्थित है। पर्वत तथा समतल के विभिन्न स्थानों में कुल नौ श्रीनरसिंह-मूर्तियाँ स्वयं प्रकटित होकर विराजमान हैं। 'उग्र नृसिंह', 'ज्वाला नृसिंह', 'मालोला नृसिंह', 'वराह नृसिंह', 'पावन नृसिंह'—ये पाँच श्रीमूर्तियाँ पर्वतों में अवस्थित हैं और 'करंज नृसिंह', 'भार्गव नृसिंह', 'योगानन्द नृसिंह' तथा 'छत्रवट नृसिंह'—ये चार श्रीमूर्तियाँ नीचे समतल भूमि पर विराजित हैं। श्रीनृसिंह-मंत्र में कथित —१) 'उग्रम्', २) 'वीरम्', ३) 'महाविष्णुम्', ४)'ज्वलन्तम्', ५)'सर्वतोमुखम्', ६) 'नृसिंहम्', ७)'भीषणम्', ८)'भद्रम्', तथ 'मृत्युमृत्युम्'—ये नौं नाम उक्त नौं श्रीनृसिंह-विग्रहों के संबंध में ही उद्दिष्ट हुए हैं। और भी यह कि, ये नौं श्रीविग्रह एक-एक ग्रह के अधिदेवता हैं—अतः इन नौं श्रीविग्रहों के दर्शन से नव-ग्रह के दोष दूर हो जाते हैं। इन नौ श्रीनृसिंह-विग्रहों के अलावा भी 'Lower' अहोबल में तीन प्रकार के विशिष्ट विशाल नृसिंह-मंदिर हैं, उनमें 'श्रीप्रह्लाद-वरद' नामक श्रीलक्ष्मी-नृसिंहदेव विराजमान हैं। उक्त मंदिर के मुख्य प्रवेश पथ के ऊपर 'श्री' सम्प्रदाय का एक प्राचीन मठ है। कहना नहीं पडेगा कि, उक्त मठ के अधीन 'श्री'-वैष्णवों के द्वारा ही अहोबल-नृसिंह-क्षेत्र की सभी श्रीमूर्तियों की सेवा सुष्ठु रूप से हो रही है। उक्त नौ नृसिंह-विग्रहों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१) उग्र नृसिंह—यह श्रीमूर्ति 'Lower' अहोबल से लभभग आठ किः मीः दूर 'Upper' अहोबल में अवस्थित हैं। ये 'अहोबल नृसिंह स्वामी' तथा 'अहोबलेश्वर' नाम से भी परिचित है। यह मंदिर नौ नृसिंह-मंदिरो में से मूल तथा आदि है। भगवान् इस स्थान पर भयंकर रूप विशिष्ट हैं, इसीलिए उनका नाम 'उग्र-नृसिंह' है—किन्तु बाहरी दृष्टि से उनका वह भयंकर रूप प्रकाशित नहीं है। यह मंदिर 'भवनाशिनी' नाम की नदी के तट पर अवस्थित है। यह नदी पर्वत की ऊँचाई से निकली एक छोटी जलधारा के रूप में दिखायी पड़ती है।

२) वराह नृसिंह—उक्त मूल मंदिर से लगभग एक किः मिः दूर भवनाशिनी नदी पार करके 'वराह-नृसिंह' मंदिर अवस्थित है। 'वराह'-मुख आकृति के ये नृसिंहदेव लक्ष्मीदेवी को बाएँ कंधे के ऊपर रखकर विराजमान हैं। वराह का दूसरा नाम 'क्रोड' है, इसीलिए ये 'क्रोडकर' नृसिंह स्वामी नाम से भी परिचित हैं।

३) मालोला नृसिंह—'वराह' नृसिंह से लगभग एक किः मीः दूर ऊँचे पर्वत पर मालोला नृसिंह अवस्थित हैं। यहाँ पर भगवान्, लक्ष्मी सहित सौम्य मूर्ति में विराजित हैं। 'मा' अर्थात् लक्ष्मी एवं 'लोल'—प्रिय; श्रीनृसिंहदेव ने यहाँ पर लक्ष्मी जी का प्रियत्व विधान किया था, इसीलिए 'मालोला नृसिंह स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। भगवान् के द्वारा पर्वतीय उपजाति में आविर्भूत श्रीचंचुलक्ष्मी से विवाह करने पर, लक्ष्मीदेवी अभिमान करके (रुष्ट होकर) यहाँ अकेली रहने लगीं, तब भगवान् ने यहाँ आकर उनका अभिमान भंग कर उन्हें प्रियता प्रदान की थी।

४) ज्वाला नृसिंह—मूल मंदिर से चार किः मीः दूर ऊंचे पर्वत पर यह मंदिर अवस्थित है। नौं मंदिरों में से यह मंदिर सबसे अधिक ऊँचाई पर है। इसी स्थान पर ही भगवान् ने ज्वलंत रूप धारण करके हिरण्यकशिपु का वधा किया था। इस मंदिर में तीन नृसिंह-मूर्तियाँ विराजमान हैं—स्तंभ से प्रकटित अवस्था में प्रथम मूर्ति, हिरण्यकशिपु के पीछे दौड़ते हुए अवस्था में दूसरी मूर्ति और उसे जांघ पर रखकर वध करने की अवस्था में तृतीय मूर्ति। मंदिर के निकट 'रक्तकुण्ड' विराजमान हैं,—हिरण्यकशिपु के वध के बाद भगवान् ने उक्त कुण्ड में हाथ में हाथ धोये थे, अभी भी उस कुण्ड के पानी में लालिमा देखी जा सकती हैं।

इस मंदिर में जाने के मार्ग में ही पर्वत के शिखर पर अवस्थित 'उग्र स्तम्भ' देखा जाता है—इसी स्तम्भ को भेदकर भगवान् प्रकट हुए थे। यह 'ज्वाला नृसिंह' से भी लगभग तीन किः मीः दूर ऊँचाई पर अवस्थित है। इस स्थान पर जाने का रास्ता अत्यन्त खडा (steep) है—पक्की सीढ़ी नहीं होने के कारण दुर्गम है।

५) पावन नृसिंह—मूल 'अहोबल-मंदिर' से लगभग ६ किः मीः दूर ऊँचे पर्वत पर अवस्थित है। 'पावन नदी के तट पर होने के कारण विग्रह का नाम 'पावन नृसिंह स्वामी' है। इस मंदिर में भगवान् 'श्रीचंचु लक्ष्मीदेवी' के साथ विराजमान हैं। श्रीचंचुदेवी पर्वतीय उपजाति में आविर्भूत हुई थीं, इसीलिए वहाँ की स्थानीय उपजाति के लोग आज भी उक्त 'पावन-नृसिंह स्वामी' को दामाद के रूप में विशेष सम्मान करते हैं।

६) करंज-नृसिंह—मूल 'अहोबल-मंदिर' से लगभग एक किः मीः दूर 'Lower' अहोबल जाने के रास्ते में समतल भूमि पर अवस्थित हैं। 'करंज' (करमचा) वृक्ष के निकट अवस्थित होने के

कारण श्रीविग्रह का नाम 'करंज नृसिंह स्वामी' है। भगवान् के पार्षद श्रीहनुमान जी ने श्रीनृसिंहदेव के दर्शनों के लिए यहाँ तपस्या की थी इसीलिए निकट में श्रीहनुमान-मन्दिर अवस्थित है। भगवान् ने श्रीहनुमान जी की इच्छा के अनुरूप धनुष धारण करके दर्शन दिये थे। भगवान् यहाँ पर 'त्रिनेत्र' विशिष्ट हैं।

७) भार्गव नृसिंह—यह मंदिर 'Lower' अहोबल से दो किः मीः दूर भार्गव-तीर्थ के निकट एक पर्वत के टीले पर अवस्थित है। 'भार्गव' अर्थात् परशुराम जी ने इस स्थान पर तपस्या करके भगवान् श्रीनृसिंहदेव के दर्शन प्राप्त किये थे।

८) योगानन्द नृसिंह—यह मंदिर 'Lower' अहोबल में 'अहोबल' मठ से लगभग दो किः मीः दूर अवस्थित है। कहा जाता है कि, हिरण्यकशिपु के वध के बाद भगवान् ने प्रह्लाद को इसी स्थान पर विभिन्न प्रकार के योग की शिक्षा दी थी। इसीलिए इस स्थान पर वे 'योगानन्द नृसिंह स्वामी' के नाम से हास्यमय रूप में विराजित हैं।

९) छत्रवट नृसिंह—'योगानन्द नृसिंह' मंदिर से आधे किः मीः का रास्ता है। पीपल-वृक्ष के नीचे अवस्थान करने के कारण 'छत्रवट-नृसिंह-स्वामी' नाम पड़ा है। गन्धर्वगण यहाँ भगवान् को संगीत के द्वारा आनन्द प्रदान करते हैं।

इन नौ श्रीविग्रहों के अलावा 'प्रह्लाद-गुफा' नामक एक दर्शनीय स्थान भी है—यह 'Upper' अहोबल में एक पर्वत पर अवस्थित है। पथ प्रदर्शक (Guide) की सहायता से ही इन स्थानों का दर्शन संभव है। किन्तु वे प्रायः सभी कम पढ़े लिखे है और स्थानीय तेलुगु भाषा छोड़कर अन्य हिन्दी या अंग्रेजी भाषा में विशेष बात-चीत नहीं कर सकते हैं।

दर्शनार्थीगण 'आलागाड्डा' से बस द्वारा सबसे पहले 'Lower' अहोबल में आकर उपस्थित होते हैं। इस स्थान पर 'अहोबल-मठ" के तत्त्वाधान में 'मालोला गेस्ट हाउस' नामक यात्री निवास है। इसके अलावा 'तिरुमला तिरुपति देवस्थानम्' (TTD) द्वारा परिचालित कम खर्च में रहने का यात्री निवास भी है। फिर बस से उतरकर ही जो विशाल मंदिर देखा जाता हैं, उसके निकट भी कुछ यात्री निवास हैं। मठ में यात्रियों के लिए प्रसाद पाने की सुव्यवस्था है। फिर 'Upper' अहोबल में मूल मंदिर के निकट अवस्थित उनके शाखा मठ में भी दर्शनार्थीगण प्रसाद पाते रहते हैं।

|| नरसिंह कवच ||

||अथ श्री नृसिंहकवचस्तोत्रम् ||

नृसिंहकवचं वक्ष्ये प्रह्लादेनोदितं पुरा।
सर्वरक्षकरं पुण्यं सर्वोपद्रव-नाशनम्॥१॥
सर्व सम्पत्करं चैव स्वर्गमोक्ष-प्रदायकम्।
ध्यात्वा नृसिंहं देवेशं हेम-सिंहासन-स्थितम्॥२॥
विवृतास्यं त्रिनयनं शरदिन्दुसमप्रभम्।
लक्ष्म्यालिङ्गितवामाङ्गम् विभूतिभिरुपाश्रितम्॥३॥
चतुर्भुजं कोमलाङ्गं स्वर्णकुण्डलशोभितम्।
सरोजशोभितोरस्कं रत्नकेयूरमुद्रितम्॥४॥
तप्त काञ्चन-संकाशं पीतनिर्मलवाससम्।
इन्द्रादिसुरमौलिष्ठः स्फुरन्माणिक्यदीप्तिभिः॥५॥
विरजितपदद्वन्द्वम् च शङ्खचक्रादिहेतिभिः।
गरुत्मत्मा च विनयात् स्तूयमानम् मुदान्वितम्॥६॥
स्व हृत्कमलसंवासं कृत्वा तु कवचं पठेत्।
नृसिंहो मे शिरः पातु लोकरक्षार्थसम्भवः॥७॥
सर्वगेऽपि स्तम्भवासः फलं मे रक्षतु ध्वनिम्।
नृसिंहो मे दृशौ पातु सोमसूर्याग्निलोचनः॥८॥
स्मृतं मे पातु नृहरिः मुनिवार्यस्तुतिप्रियः।
नासं मे सिंहनाशस्तु मुखं लक्ष्मीमुखप्रियः॥९॥
सर्व विद्याधिपः पातु नृसिंहो रसनं मम।
वक्त्रं पात्विन्दुवदनं सदा प्रह्लादवन्दितः॥१०॥
नृसिंहः पातु मे कण्ठं स्कन्धौ भूभृदनन्तकृत्।
दिव्यास्त्रशोभितभुजः नृसिंहः पातु मे भुजौ॥११॥
करौ मे देववरदो नृसिंहः पातु सर्वतः।
हृदयं योगि साध्यश्च निवासं पातु मे हरिः॥१२॥
मध्यं पातु हिरण्याक्ष वक्षःकुक्षिविदारणः।
नाभिं मे पातु नृहरिः स्वनाभिब्रह्मसंस्तुतः॥१३॥
ब्रह्माण्ड कोटयः कट्यां यस्यासौ पातु मे कटिम्।
गुह्यं मे पातु गुह्यानां मन्त्राणां गुह्यरूपदृक्॥१४॥

ऊरू मनोभवः पातु जानुनी नररूपदृक्।
जङ्घे पातु धराभर हर्ता योऽसौ नृकेशरी॥१५॥
सुर राज्यप्रदः पातु पादौ मे नृहरीश्वरः।
सहस्रशीर्षापुरुषः पातु मे सर्वशस्तनुम्॥१६॥
महोग्रः पूर्वतः पातु महावीराग्रजोऽग्नितः।
महाविष्णुर्दक्षिणे तु महाज्वलस्तु नैरृतः॥१७॥
पश्चिमे पातु सर्वेशो दिशि मे सर्वतोमुखः।
नृसिंहः पातु वायव्यां सौम्यां भूषणविग्रहः॥१८॥
ईशान्यां पातु भद्रो मे सर्वमङ्गलदायकः।
संसारभयतः पातु मृत्योर्मृत्युर्नृकेशरी॥१९॥
इदं नृसिंहकवचं प्रह्लादमुखमण्डितम्।
भक्तिमान् यः पठेन्नित्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥२०॥
पुत्रवान् धनवान् लोके दीर्घायुरुपजायते।
कामयते यं यं कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयम्॥२१॥
सर्वत्र जयमाप्नोति सर्वत्र विजयी भवेत्।
भूम्यन्तरीक्षदिव्यानां ग्रहाणां विनिवारणम् ॥२२॥
वृश्चिकोरगसम्भूत विषापहरणं परम्।
ब्रह्मराक्षसयक्षाणां दूरोत्सारणकारणम्॥२३॥
भुजेवा तलपात्रे वा कवचं लिखितं शुभम्।
करमूले धृतं येन सिध्येयुः कर्मसिद्धयः॥२४॥
देवासुर मनुष्येषु स्वं स्वमेव जयं लभेत्।
एकसन्ध्यं त्रिसन्ध्यं वा यः पठेन्नियतो नरः॥२५॥
सर्व मङ्गलमाङ्गल्यं भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति।
द्वात्रिंशतिसहस्राणि पठेत् शुद्धात्मनां नृणाम्॥२६॥
कवचस्यास्य मन्त्रस्य मन्त्रसिद्धिः प्रजायते।
अनेन मन्त्रराजेन कृत्वा भस्माभिर्मन्त्रानाम्॥२७॥
तिलकं विन्यसेद्यस्तु तस्य ग्रहभयं हरेत्।
त्रिवारं जपमानस्तु दत्तं वार्याभिमन्त्र्य च॥२८॥
प्रसयेद् यो नरो मन्त्रं नृसिंहध्यानमाचरेत्।
तस्य रोगः प्रणश्यन्ति ये च स्युः कुक्षिसम्भवाः॥२९॥
गर्जन्तं गार्जयन्तं निजभुजपतलं स्फोटयन्तं हतन्तं
रूप्यन्तं तापयन्तं दिवि भुवि दितिजं क्षेपयन्तं क्षिपन्तम्।
क्रन्दन्तं रोषयन्तं दिशि दिशि सततं संहरन्तं
भरन्तं वीक्षन्तं पूर्णयन्तं करनिकर-शतैर्दिव्यसिंहं नमामि॥३०॥

इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे प्रह्लादोक्तं श्रीनृसिंहकवचं सम्पूर्णम्॥

संकटनाशन श्रीलक्ष्मीनृसिंहस्तोत्रम्

श्रीमत्पयोनिधिनिकेतन चक्रपाणे
भोगिन्द्रभोगमणिरञ्जितपुण्यमूर्ते ।
योगिश शाश्वत शरण्य भवाब्धिपोत
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि कराबलम्बम्॥१॥

हे अति शोभायमान क्षीरसमुद्रमें निवास करनेवाले, हाथमें चक्र धारण करनेवाले, नागनाथ (शेषजी) के मणियोंसे देदिप्यमान मनोहर मूर्तिवाले, हे योगीश! हे सनातन! हे शरणागतवत्सल! हे संसारसागरके लिये नौकारुप! लक्ष्मीनृसिंह! मुझे अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ १॥

ब्रह्मेन्द्ररुद्रमरुदर्ककिरीटकोटी–
सङ्घट्टिताङ्घ्रिकमलामलकान्तिकान्त।
लक्ष्मीलसत्कुचसरोरुहराजहंस
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि कराबलम्बम्॥२॥

आपके अमल चरणकमल ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, मरुत् और सूर्य आदिके किरीटोंकी कोटियोंकी कोटियोंके समूहसे अति देदिप्यमान हो रहे हैं। हे श्री लक्ष्मीजीके कुचकमलके राजहंस श्रीलक्ष्मीनृसिंह! मुझे अपने करकमलका सहारा दीजिए॥२॥

संसारघोरगहने चरतो मुरारे
मारोग्रभीकरमृगप्रवरार्दितस्य ।
आर्तस्य मत्सरनिदाघनिपीडितस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करवलम्बम्॥ ३॥

हे मुरारे! संसाररूप गहन वनमें विचरते हुए कामदेवरूप अति उग्र और भयानक मृगराजसे पीडित तथा मत्सररूप घामसे सन्तप्त अति आर्तको हे लक्ष्मीनृसिंह! अपने करकमलका सहारा दीजीए॥३॥

संसारकूपमतिघोरमगाधमूलम्
सम्प्राप्य दुःखशतसर्पसमाकुलस्य ।

दीनस्य देव कृपणापदमागतस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करवलम्बम्॥ ४॥

संसाररूप अति भयानक और अगाध कूपके मूलमें पहुँचहकर जो सैकडों प्रकारके दुःखरूप सर्पोंसे व्याकुल और अत्यन्त दीन हो रहा है, उस अति कृपण और आपत्तिग्रस्त मुझको हे लक्ष्मीनृसिंहदेव! अपने करकमलका सहारा दीजीए॥ ४॥

संसारसागरविशालकरालकाल–
नक्रग्रहग्रसननिग्रहविग्रहस्य।
व्यग्रस्य रागरसनोर्मिनिपीडितस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करवलम्बम्॥५॥

संसारसागसमें अति कराल और महान् कालरूप नक्रों और ग्राहोंके ग्रसनेसे जिसका शरीर निगृहीत हो रहा है तथा आसक्ति और रसनारूप तरङ्गमालासे जो अति पीडित है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंहदेव! अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ ५॥

संसारवृक्षमघबीजमनन्तकर्म–
शाखाशतं करणपत्रमनङ्गपुष्पम्।
आरुह्य दुःखफलितं पततो दयालो
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥६॥

हे दयालो! पाप जिसका बीज है, अनन्त कर्म सैकडों शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ पत्ते हैं, कामदेव पुष्प हैं तथा दुःख ही जिसका फल है, ऐसे संसाररूप वृक्षपर चढकर मैं नीचे गिर रहा हूँ, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह! अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ ६॥

संसारसर्पघनवक्त्रभयोग्रतीव्र–
दंष्ट्राकरालविषदग्धविनष्टमूर्तेः।
नागारिवाहन सुधाब्धिनिवास शौरे
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥७॥

इस संसारसर्पके विकट मुखकी भयरूप उग्र दाढोंके कराल विषसे दग्ध होकर नष्ट हुए मुझको हे गरुडवाहन, क्षीरसागरशायी, शौरि श्रीलक्ष्मीनृसिंह! आप अपने करकमलका सहारा दीजिए॥७॥

संसारदावदहनातुरभीकरोरु–

ज्वालावलीभिरतिदग्धतनूरुहस्य ।
त्वत्पादपद्मसरसीशरणागतस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥८॥

संसाररुप दावानलके दाहसे अति आतुर और उसकी भयंकर तथा विशाल ज्वाला-मालाओंसे जिसके रोम-रोम दग्ध हो रहे हैं तथा जिसने आपके चरण-कमलरूप सरोवरकी शरण ली है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंहदेव! अपने करकमलका सहारा दीजिए॥८॥

संसारजालपतितस्य जगन्निवास
सर्वेन्द्रियार्थबडिशार्थझषोपमस्य ।
प्रोत्खण्डितप्रचुरतालुकमस्तकस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥८॥

हे जगन्निवास! सकल इन्द्रियोंके विषयरूप बंसी (उसमें फँसने) के लिए मत्स्यके समान संसारपाशमें पडकर जिसके तालु और मस्तक खण्डित हो गये हैं, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह! अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ ९॥

संसारभीकरकरीन्द्रकराभिघात-
निष्पिष्टमर्मवपुषः सकलार्तिनाश ।
प्राणप्रयाणभवभीतिसमाकुलस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥ १०॥

हे सकलार्तिनाशन! संसाररूप भयानक गजराजकी सूँडके आघातसे जिसके मर्मस्थान कुचल गये हैं तथा जो प्राणप्रयाणके सदृश संसार (जन्म-मरण) के भयसे अति व्याकुल है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंहदेव! अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ १०॥

अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य
चोरैः प्रभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः।
मोहान्धकूपकुहरे विनिपातितस्य
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥११॥

हे प्रभो! इन्द्रिय नामक प्रबल चोरोंने जिसके विवेकरूप परम धनको हर लिया है तथा मोहरूप अन्धकूपके गड्ढेमें जो गिरा दिया गया है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह! अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ ११॥

बद्ध्वा गले यमभटा बहु-तर्जयन्तः
कर्षन्ति यत्र भवपाशशतैर्युतं माम् ।
एकाकिनं परवशं चकितं दयालो
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥ १२॥

मैं सांसारिक बंधनों के सैकड़ों बन्धनों में बँधा हुआ हूँ। यम (मृत्यु) के सैनिकों ने मेरे गले में अपना फंदा डाल दिया है और मुझे धमकाते हुए घसीट रहे हैं। मैं अकेला, डरा हुआ और बिना किसी स्वतंत्रता के हूँ। हे दयालु लक्ष्मी नरसिंह, मुझे अपने हाथों का सहारा प्रदान करें।

लक्ष्मीपते कमलनाभ सुरेश विष्णो
वैकुण्ठ कृष्ण मधुसूदन पुष्कराक्ष ।
ब्रह्मण्य केशव जनार्दन वासुदेव
देवेश देहि कृपणस्य करावलम्बम्॥ १३॥

हे लक्ष्मीपते! हे कमलनाभ! हे देवेश्वर! हे विष्णो! हे वैकुण्ठ! हे कृष्ण! हे मधुसुदन! हे कमलनयन! हे ब्रह्मण्य! हे केशव! हे जनार्दन! हे वासुदेव! हे देवेश! मुझ दीनको अपने करकमलका सहारा दीजिए॥ १३॥

एकेन चक्रमपरेण करेण शंख-
मन्येन सिन्धुतनयामवलम्ब्य तिष्ठन्।
वामेतरेण वरदाभयपद्मचिह्नं
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥१४॥

आप एक हात में सुदर्शन चक्र धारण करते है। दूसरे हात में पाञ्चजन्य शंख धारण करते हैं। तिसरा हात समुद्र की कन्या श्रीलक्ष्मीदेवी के कमर पर विराजमान हैं। चौथा हात दर्शाता है की आप वर प्रदान करते हैं और भक्तों के भय को भगा देते हैं। हे लक्ष्मीनृसिंह! मुझे अपने करकमलका सहारा दीजिए॥१४॥

संसारसागरनिमज्जनमुह्यमानं
दीनं विलोकय विभो करुणानिधे मां।
प्रह्लादखेदपरिहारपरावतार
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥ १५॥

सांसारिक अस्तित्व के सागर में डूबा हुआ मैं मोहित हो रहा हूँ। हे भगवान! हे करुणा के भण्डार! अपनी दृष्टि मुझ निःसहाय की ओर करो। (जिस प्रकार आपने) प्रह्लाद के दुःख को दूर करने के उद्देश्य से सर्वोच्च अवतार ग्रहण किया, उसी तरह हे लक्ष्मी नृसिंह, मुझे अपने हाथों का सहारा दें।

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक–
व्यासादिभागवतपुंगवहृन्निवास।
भक्तानुरक्तपरिपालनपारिजात
लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्॥१६॥

आप प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक और व्यास के समान सर्वोत्कृष्ट महाभागवतों के हृदयों में विराजमान हैं। आप अपने श्रद्धावान, समर्पित और ऐकान्तिक भक्तों की रक्षा के लिए तथा सभी इच्छाओं को पुर्ण करने वाले कल्प–वृक्ष हैं। हे लक्ष्मीनृसिंह! मुझे अपने करकमलका सहारा दीजिए॥१६॥

यन्माययोर्जितवपुःप्रचुरप्रवाह–
मग्नार्थमत्र निवहोरुकरावलम्बम् ।
लक्ष्मीनृसिंहचरणाब्जमधुव्रतेन
स्तोत्रं कृतं सुखकरं भुवि शङ्करेण॥ १७॥

जिसका स्वरूप मायासे ही प्रकट हुआ है उस प्रचुर संसारप्रवाहमें डूबे हुए पुरुषोंके लिए जो इस लोकमें अति बलवान् करावलम्बरूप है ऐसा यह सुखप्रद स्तोत्र इस पृथ्वीतलपर लक्ष्मीनृसिंहके चरणकमलके लिए मधुकररूप शङ्कर (शङ्कराचार्यजी) ने रचा है॥ १७॥

लक्ष्मीनृसिंहचरणाब्जमधुव्रतेन
स्तोत्रं कृतम् शुभकरं भुवि शंकरेण ।
ये तत्पठन्ति मनुजा हरिभक्तियुक्ता–
स्ते यान्ति तत्पदसरोजमखण्डरूपं॥१८॥

इस शुभ स्तोत्र की रचना आदि शंकराचार्य ने की है जो श्री लक्ष्मीनरसिंह के चरण कमलों का अमृत पीने में लगी हुई मधुमक्खी के समान है। इस संसार में, जो कोई भी इसका पाठ करता है, वह

हरि की भक्ति से भर जाएगा और परब्रह्म श्रीकृष्ण के अविभाजित चरण कमलों को प्राप्त करेगा।

॥ इति श्रीमद् शङ्कराचार्यकृतं संकटनाशन
श्रीलक्ष्मीनृसिंहस्तोत्रम् समाप्तम्॥

श्रीनृसिंह-अष्टोत्तरशतनाम-स्तोत्रम्

।रुद्राद्या ऊचुः।
ॐ नमो नारसिंहाय तीक्ष्ण-दंष्ट्राय ते नमः।
नमो वज्र-नखायैव विष्णवे जिष्णवे नमः॥१॥
सर्वबीजाय सत्याय सर्वचैतन्य-रूपिणे।
सर्वाधाराय सर्वस्मै सर्वगाय नमो नमः॥२॥
विश्वस्मै विश्ववन्द्याय विरिञ्चि-जनकाय च।
वागीश्वराय वेद्याय वेधसे वेदमौलये॥३॥
नमो रुद्राय भद्राय मङ्गलाय महात्मने।
करुणाय तुरीयाय शिवाय परमात्मने॥४॥
हिरण्यकशिपु-प्राण-हरणाय नमो नमः।
प्रह्लाद-ध्यायमानाय प्रह्लादार्ति-हराय च॥५॥
प्रह्लाद-स्थिरसाम्राज्य-दायकाय नमो नमः।
दैत्य-वक्षोविदलन-व्यग्र-वज्रनखाय च॥६॥
आन्त्रमाला-विभूषाय महारौद्राय ते नमः।
नम उग्राय वीराय ज्वलते भीषणाय च॥७॥
सर्वतोमुख-दुर्वार-तेजो-विक्रमशालिने।
नरसिंहाय रौद्राय नमस्ते मृत्युमृत्यवे॥ ८॥
मत्स्याद्यनन्त-कल्याण-लीला-वैभवकारिणे।
नमो व्यूहचतुष्काय दिव्यार्चा-रूपधारिणे॥९॥
परस्मै पाञ्चजन्यादि-पञ्च-दिव्यायुधाय च।
त्रिसाम्ने च त्रिधाम्ने च त्रिगुणातीत-मूर्तये॥१०॥
योगारूढाय लक्ष्याय मायातीताय मायिने।
मन्त्रराजाय दुर्दोष-शमनायेष्टदाय च॥११॥
नमः किरीट-हारादि-दिव्याभरण-धारिणे।
सर्वालङ्कार-युक्ताय लक्ष्मीलोलाय ते नमः॥१२॥
आकण्ठ-हरिरूपाय चाकण्ठ-नररूपिणे।

चित्राय चित्ररूपाय जगच्चित्रतराय च॥१३॥
सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त-सारसत्तमयाय च।
सर्व-मन्त्राधिदेवाय स्तम्भ-डिम्भाय शंभवे॥१४॥
नमोऽस्त्वनन्त-कल्याणगुण-रत्नाकराय च।
भगवच्छब्द-वाच्याय वागतीताय ते नमः॥१५॥
कालरूपाय कल्याय सर्वज्ञायाघहारिणे ।
गुरवे सर्वसत्कर्म-फलदाय नमो नमः॥ १६॥
अशेष-दोषदूराय सुवर्णायात्मदर्शिने ।
वैकुण्ठपद-नाथाय नमो नारायणाय च॥ १७॥
केशवादि-चतुर्विंशत्यवतार-स्वरूपिणे ।
जीवेशाय स्वतन्त्राय मृगेन्द्राय नमो नमः॥ १८॥
बर्ह्मराक्षस-भूतादि-नानाभय-विनाशिने ।
अखण्डानन्द-रूपाय नमस्ते मन्त्रमूर्तये॥ १९॥
सिद्धये सिद्धिबीजाय सर्वदेवात्मकाय च ।
सर्व-प्रपञ्च-जन्मादि-निमित्ताय नमो नमः॥ २०॥
शङ्कराय शरण्याय नमस्ते शास्त्रयोनये ।
ज्योतिषे जीवरूपाय निर्भेदाय नमो नमः॥ २१॥
नित्यभागवताराध्य सत्यलीला-विभूतये ।
नरकेसरिताव्यक्त-सदसन्मय-मूर्तये॥ २२॥
सत्तामात्र-स्वरूपाय स्वाधिष्ठानात्मकाय च ।
संशयग्रन्थि-भेदाय सम्यग्ज्ञान-स्वरूपिणे॥ २३॥
सर्वोत्तमोत्तमेशाय पुराण-पुरुषाय च ।
पुरुषोत्तमरूपाय साष्टाङ्गं प्रणतोऽस्म्यहम्॥ २४॥
नाम्नामष्टोत्तरशतं श्रीनृसिंहस्य यः पटेत् ।
सर्वपाप-विनिर्मुक्तः सर्वेष्टार्थानवाप्नुयात्॥ २५॥

॥ इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे नृसिंहाष्टोत्तर-शतनाम-स्तोत्रं संपूर्णम्॥